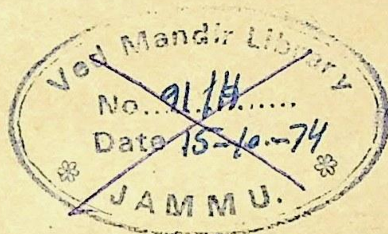

Library
No 77/H
Date 15.10.74
JAMMU.

9







श्री श्री ज्ञानेश्वर-प्रकाशन-मालायां सप्तमाष्टमं पुष्पं

भारतीय-शिक्षा-विभाग-द्वारा पाठ्य-क्रम में स्वीकरणीय

मैं कौन हूं ?

इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देने वाली

ॐ वेदान्त—प्रवेशिका ॐ

और

वेदान्त—प्रवेश

[सोपान-द्वयात्मक—प्रथम भाग]

ग्रन्थकार, सम्पादक और प्रकाशक
वेदान्तकेसरी, वेदान्ताचार्य, डॉक्टर

स्वामी ज्ञानानन्द सरस्वती

षट् शास्त्री, एवं दर्शनाचार्य, M.E.E., M.Sc. M.D.H.

प्रथम काश्मीरी संस्करण १००० } मूल्य सदुपयोग {
लागत खर्च : ० रु० ७५ पै०
+डाक व्यय : ...रु० ... पै०
————
कुल व्यय... रु० ... प०

"वेदान्त-प्रवेशिका" के विषय में—

मैंने इस पुस्तक के गंभीर और ऊंचे विचारों को भली प्रकार से मनन करने के पश्चात् एक विलक्षण प्रसन्नता का यह जानकर अनुभव किया कि "परमादरणीय श्री १०८ स्वामी ज्ञानानन्द सरस्वती जी महाराज." जो कि साक्षात् ज्ञान के ही स्वरूप हैं,—ने वेदान्त-शास्त्रों में प्रवेश करने वाले जिज्ञासुओं के लिये निज रूप की पहचान के द्वारा परमानन्द की प्राप्ति के अर्थ आत्मज्ञान के कठिन मार्ग को अत्यन्त सुलभ बना दिया है।

श्री महाराज जी के द्वारा इस पुस्तक में वर्णित विचारों के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य शब्दादि भोगों को प्राप्त करना नहीं है; अपितु दुःखों को मिटा कर परमशान्ति को प्राप्त करना है। आत्मा से भिन्न संसार के समस्त पदार्थ चूंकि नाशवान् हैं; इसलिये उनसे अविनाशी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। केवल आत्मा ही अविनाशी और आनन्दस्वरूप है—इसलिये आत्मज्ञान के द्वारा ही परम शान्ति की प्राप्ति सम्भव है। श्री महाराज जी ने इस रहस्य को भली प्रकार से इस पुस्तक में खोल दिया है क्या ही अच्छा हो कि प्रत्येक मनुष्य इस अनमोल पुस्तक के विचारों को अपना कर अपने जीवन को सफल बना सके।

आप का

महात्मा आनन्द सागर

परमाध्यक्ष—सत्संग-भवन, रानी तालाब,

जम्मू-तवी।

वेदान्त-प्रवेशिका और वेदान्त-प्रवेश के लिए विद्वानों की सम्मतियाँ

ॐ—"आत्मा का अरे श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः"—इत्यादि श्रुति मूलक आदेशों के अनुसार जीव के लिये आत्म-दर्शन ही—परम दर्शन है। अतः 'मैं कौन हूं'–यही ज्ञातव्य है।

ब्रह्मात्मैकत्व प्रतिपादक होने से वेदान्तदर्शन, षड्दर्शन-शिरोमणि है। परम प्रभु की यह देन, पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ भारतीय-दार्शनिकों की उच्चतम अनुभूति है।

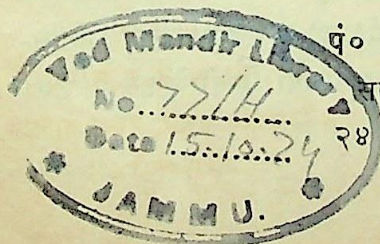
श्री स्वामी ज्ञानानन्द सरस्वती महाराज जी द्वारा इस दुरूह वेदान्त-शास्त्र में प्रवेश के लिये "वेदान्त-प्रवेशिका और वेदान्त-प्रवेश" लिखकर सरल सन्मार्ग के निर्माण का प्रयत्न किया गया है। इस में 'शमादि षट्क सम्पत्ति' अथ च 'पंचीकृत एवं अपञ्चीकृत' पञ्चमहाभूत आदि वेदान्त की गम्भीर प्रक्रियाओं के विश्लेषण की प्रशंसनीय चेष्टा हुई है।

जिज्ञासु जनों को पुस्तक के स्वाध्याय से श्री स्वामी जी के सत्प्रयास का लाभ उठाना चाहिये। यही मेरी विनम्र सम्मति है।

—हस्ताक्षर—

....

पं० श्री जगन्नाथ वासिष्ठ
साम्बा (जम्मू-काश्मीर)
२४ आश्विन २०२४ वैक्रम



वेदान्त-प्रवेशिका के विषय में सम्मति

अनादिकाल से संसार के सभी प्राणी यह चाहते हैं कि हम सदा सुखी रहें, और हमें संसार का कोई भी सन्ताप कभी न सताए।' इस इच्छा को पांचभौतिक साधनों द्वारा पूर्ण करने के लिये सभी मनुष्य सदा से पर्याप्त प्रयास कर हो रहे हैं। किन्तु अभी तक किसी भी मानव की यह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी है; क्योंकि जिन लौकिक साधनों से वे संसार के सन्तापों से सदा के लिये छुटकारा पा जाना चाहते हैं, वे ही इनके दुःखों की वृद्धि के कारण हो जाते हैं। और जिनको वे सुख साधनता की भावना से प्राप्त करते हैं, वे ही दुःख साधन बन जाते हैं।

इससे यह प्रमाणित है कि लौकिक पुरुषार्थ और उनके साधन, आत्यन्तिक-सुख-प्राप्ति तथा जन्म-मरण रूप दुःख के समूलोच्छेद केसाधन कभी नहीं हैं।

इसीलिये भारतीय त्रिकालदर्शी ऋषि मुनियों न नित्य-सुख-लाभ तथा संसार-सन्ताप को आत्यन्तिकी-निवृत्ति का परमोपाय अपने आप "मै" के यथार्थ ज्ञान को ही एक मत से प्रमाणित किया है। जिसके अनुसार श्री स्वामी ज्ञानानन्द सरस्वती (शास्त्री, दर्शनाचार्य) जी ने सर्व-साधारण जिज्ञासु-जनों के कल्याण-साधनार्थ राष्ट्र-भाषा हिन्दी में इस पुस्तिका

में "मैं कौन हूं" इस प्रश्न के उत्तर के रूप में-अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार निरूपण करने का प्रयास किया है। भारतीय-शिक्षा-संस्थाओं के पाठ्य-क्रम में स्वीकरणीय उनका यह प्रयास पर्याप्त रूप से सफल हुआ है।

मैंने इस पुस्तक के उपोद्घात प्रकरण का कुछ अंश देखा है। इसमें आत्म-ज्ञान की योग्यता-लाभ के लिये आत्म-संशोधन के पर्याप्त-साधन लिखे गये हैं।

यद्यपि गम्भीर विषय के लिये गम्भीर भाषा ही उपयुक्त समझी जाती है, और वेदान्त के मूलसिद्धान्तों को सरलभाषा में स्पष्ट करना कठिन कार्य ही है; तथापि पुस्तक की क्रमबद्ध रचना-शैली सुन्दर और भाषा सरल, सरस तथा प्राञ्जल है, जोकि ग्रन्थकार का ही वैशिष्ट है। आशा है जिज्ञासु, विद्यार्थी, एवं साधारण पाठक-जन भी इस पुस्तक से पर्याप्त लाभ प्राप्त करेंगे।

—हस्ताक्षर—

....

पं० श्री जयराम शर्मा
शास्त्री, न्यायाचार्य, वेदान्ताचार्य जम्मू
भूतपूर्व प्रिंसिपल—
श्रीरघुनाथ संस्कृत महाविद्यालय जम्मू

शारदीय नवरात्र सं०—२०२४

"वेदान्त-प्रवेश" के विषय में सम्मति

सभी प्राणियों का जीवन-लक्ष्य एक मात्र सुख प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति ही है। साधारण पशु-पक्षी-कीट-पतङ्गादि विवेक-ज्ञान-शून्य होने के कारण केवल तात्कालिक-सुख प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति के लिए ही प्रयत्न करते हैं। किन्तु "इस प्रयत्न से हमें सुख होगा, अथवा सुखके बदले दुःख ही होगा" ऐसा विवेक-ज्ञान उनमें नहीं होता।

मनुष्य में यह विशेष ज्ञान होता है—कि वह अतीत और वर्तमान की तरह अनागत में भी सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति के लिये प्रयत्न करता है। न केवल इस लोक के लिये ही, किन्तु परलोक के लिये सोचता भी है। न केवल अपने लिये ही किमुत अपने सम्बन्धियों जाति और देश के लिये भी सोचता है। परन्तु यह सब उसकी विचार-शक्ति के संकोच-विकास पर निर्भर है।

मनुष्य ऐहिक सुख प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के धन्धों में उलझा हुआ दिखाई देता है, और प्रायः परलोक के लिये भी तरह तरह के व्रत-उपवास, जप-तप, पूजा-पाठ तीर्थ-स्नान, पुण्य-दान, हवन-अनुष्ठान आदि कर्म-काण्ड करता रहता है।

परन्तु जो विवेकी एवं तत्त्वदर्शी होते हैं, वे अनुभव करते हैं; कि जितने अधिक लौकिक-सुख के साधन उपस्थित किये जाते हैं, उतने ही उनके साथ दुःख भी उत्पन्न होते जाते हैं। लौकिक सुख के साधन धन आदि के उपार्जन में ही अनन्त

दुःख होते हैं, और प्राप्त हो जाने के याद उनकी रक्षा के लिये भी निरन्तर चिन्तित रहना पड़ता है। यत्किञ्चित् सुख के प्राप्त होने पर भी उसके नाश का भय और परिणाम में लौकिक विषयों का दुःखप्रद होना अवश्यम्भावी है। क्योंकि यह बात सत्य है कि 'काम्य की अभिलाषा, काम्य कर्म और काम्य पदार्थ ही जन-समाज में अनेक प्रकार के दुःखों, असमानताओं और विषयों को उत्पन्न करते हैं'। और वे ही नित्य-निरतिशय सुख में वाधा डालते हैं इसलिये विशेषज्ञों की यह धारणा है कि जिन सुखों के साथ दुःख मिला रहता है, वे दुःखमिश्रित सुख, वास्तविक सुख नहीं होते हैं।

इसलिये आत्यिन्तिक-दुःख-निवृत्ति और निरतिशय-सुख-प्राप्ति के लिये वे विवेकी विशेष साधनों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं। जब वे देखते हैं कि यह सारा विश्व-क्षणिक सुख-मय है, और समस्त जीव-जात अपने समान ही दुःखाभिभूत है; तो उन्हें यह जानने की तीव्र उत्कण्ठा होती है कि—"मैं कौन हूं"? इस विश्वके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? यह विश्व क्यों और किस तरह हुआ है? इसमें बहुविध-सुख दुःख क्यों होते हैं? इनसे किसी प्रकार छुटकारा भी हो सकता है, या नहीं? यदि हो सकता है तो किस प्रकार होगा?

इनकी इस प्रकार की जिज्ञासा की पूर्ति वेदान्त-शास्त्र ही कर सकता है।

वेदान्त-शास्त्र में यह स्पष्ट बताता है कि आत्मा के सच्चे स्वरूप के ज्ञान से ही सब दुःखों की निवृत्ति और आनन्द तथा

शान्ति की पराकाष्ठा की प्राप्ति होती है। वस्तुतः वेदान्त नाम उपनिषदों का है। उपनिषदों में कहा गया है कि 'आत्मनि खलु अरे दृष्टे, श्रुते, मते, विज्ञाते इदं सर्वं विदितं भवति'; अर्थात् आत्मा के देखने, सुनने, मनन करने, और जान लेने पर यह सब कुछ जाना जा सकता है। जो आत्मा और संसार के सच्चे स्वरूप को नहीं जानता वह धर्म या कर्तव्य का निर्णय नहीं कर सकता।

हम कौन हैं? कहां से आये? कहां जायेंगे? जीना मरना, सुख-दुःख क्या है? और जीने का लक्ष्य क्या है? इत्यादि बातों को जो नहीं जानता, वह कैसे, निर्णय कर सकता है कि मनुष्य का कर्तव्य या धर्म क्या है? आत्मज्ञान ही वास्तव में सब धर्मों का आश्रया, सब कर्मों का उपाय, और सब विद्याओं का प्रकाश कहे।

आश्रयः सर्व-धर्माणामुपायः सर्व-कर्मणाम्।
प्रदीपः सर्व-विद्यानामात्म-विद्यैव निश्चिता॥

जिससे ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति हो, वही सत्य-सनातन-धर्म है। सनातन, इसलिये कि वह नित्य, सर्वगत, सर्व-व्यापक, कूटस्थ है।

उपनिषदों में आत्मा के विषय में कहा है—"सोऽयमात्मा श्रेष्ठश्च प्रेष्ठश्च", "आत्मनस्तु कामाय, सर्वं प्रियं भवति", 'सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति 'अहमस्मि' इति" यही सन्मय, चिन्मय, आनन्दमय है, संस्कृत वर्ण माला का आदिम

अक्षर अ' और अन्तिम 'ह' है, इन दोनों के बीच में ही अन्य सभी वर्ण हैं, इन्हीं अक्षरों के संयोग में सभी वाक्य हैं; जो सभी, ज्ञान-इच्छा और क्रियाओं के बोधक हैं।

आत्मा की निगूढ़ सर्वज्ञता (अहम्) इस आद्य-अन्त्य अक्षरों के संयोग से प्रकट होती है, तथा यह भी कि "अहमेवेदं सर्वं". 'मयि स्थितमिदं जगत् सकलमेव" सारे के सारे षट्त्रिंशत्. षड्विंशति, पञ्चविंशति, षोडश प्रभृति पदार्थ (—तत्त्व एक "अहम्", (=मैं) के भीतर हैं, मैं किसी के भीतर नहीं है।

इसलिये वेदान्त केसरी, वेदान्ताचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री १००८ श्री स्वामी ज्ञानानन्द सरस्वती जी ने "मैं कौन हूं" इस प्रश्न को समझाने के लिये "वेदान्त-प्रवेशिका" और "वेदान्त-प्रवेश", आदि का निर्माण किया है। क्योंकि, इस युग में जितनी उच्छृङ्खलता और स्वार्थ-परायणता आदि बढ़ी हुई हैं, ये सब "आत्मा को सब में और सब को आत्मा में" पहचान लेने से क्षीण हो जायेंगी, और इस तरह सच्ची स्वतन्त्रता का लाभ भी होगा।

स्वातन्त्र्यात् सुखमाप्नोति स्वातन्त्र्याल्लभते परम्।
स्वातन्त्र्यात्-निर्वृतिं गच्छेत् स्वातन्त्र्यात् परमं पदम्॥

स्वामी जी के सम्मान में कुछ कहना, प्रत्यक्ष में प्रमाणान्तर की भांति मैं व्यर्थ ही समझता हूं।

क्योंकि—विधि हरि हर कवि कोविद बानी।
कहत साधु-महिमा सकुचानी॥ —मानस—

चूंकि ये स्वभाव से ही, 'साधयन्ति शुभं जीवानाम्'। साधुता

ब्रह्मण्यता, शान्ति, सर्वभूतदया, अहिंसा आदि से युक्त महापुरुष होते है। इनके स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के पवित्र "वर्चस्" ओज के बल से इनके समीप जो मनुष्य, पशु, पक्षी, आ जाता है उसमें भी, उतने काल के लिये शान्ति का भाव तो भर ही जाता है। फिर यदि वे सत्य ज्ञान के उपदेश से, जिज्ञासुओं को अनुगृहीत करें तो इनका, जनता के लिए भारी उपकार ही समझना चाहिये।

वेदान्त के विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए भी इन ग्रन्थों की अत्यन्त आवश्यकता है; ये ग्रन्थ उनके लिए प्रकाश स्वरूप हैं। अधिकारी विद्वान् इस पर ध्यान दें।

मैं आशा करता हूं कि, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री स्वामी, ज्ञानानन्द सरस्वती जी के द्वारा विरचित इन पुस्तकों से जिज्ञासुओं को महान् लाभ होगा और महान् प्रयत्न से प्राप्त की हुई, यह भारत की वर्तमान स्वतन्त्रता भी तभी सफल होगी।

—हस्ताक्षर—

....

पं० श्री काकाराम शास्त्री
वेदाचार्य, व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य,
पुरानी मण्डी, जम्मू
भूतपूर्व प्रधानाचाय,
श्री रघुनाथ-संस्कृत-महाविद्यालय, जम्मू (कश्मीर)

विजयादशमी
सं० २०२४

प्राक्कथन

ॐआत्मस्वरूपाय श्री ज्ञानेश्वराय नमः ।। श्री सद्गुरवे नमः ।।

अन्तरात्मा में बहुत वर्षों से स्वाभाविक स्फुरण हो रहा था कि न्याय, मीमांसा, व्याकरण आदि शास्त्रों के क्रमशः तर्कसंग्रह, अर्थसंग्रह, लघुसिद्धान्त–कौमुदी के समान प्राथमिक और न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शास्त्रदीपिका, मध्यसिद्धान्त कौमुदी के समान माध्यमिक ग्रन्थों की तरह वेदान्त-ग्रन्थों के होने से जिज्ञासुओं को बड़ी सरलता हो जाती ।

इसी बीच में महान् पुरुषों की दया से अन्तःस्थित श्री सरस्वती भगवती की कृपा से स्वान्तःकरण में ही प्रेरणा होने लगी, कि उपर्युक्त रीति से क्रमबद्ध निर्माण हो ही जाय ।

उन्हीं दिनों अपने परमप्रेमास्पद आत्मस्वरूप 'श्री स्वामी ज्ञानेश्वर मुक्त' जी" के द्वारा विरचित "वेदान्त-प्रवेश" दृष्टि-गोचर हुआ । "अन्धा चाहे दो आंख" वाली जनोक्ति चरितार्थ हो गई । "वेदान्त-प्रवेश" का स्तर मध्यम प्रतीत हुआ; इस से मानों एक कार्य तो सिद्ध ही हो गया और अब वदान्त के माध्यमिक ग्रन्थ के निर्माण की अपेक्षा तो समाप्त ही हो गई; परंतु प्राथमिक स्तर पर ग्रन्थ-निर्माण अत्यावश्यक प्रतीत हुआ ।

इसलिए "वेदान्त-प्रवेश" को ही केन्द्र-बिन्दु मान कर उस से पूर्वक के स्तर की रचना प्रारम्भ हो गई, जो कि आपके सम्मुख "वेदान्त-प्रवेशिका" के नाम से प्रस्तुत है । "वेदान्त-प्रवेश"—कृत् का भी परिचय जिज्ञासुओं के लिए अपेक्षित जान कर प्रथम सोपान में उचित रीति से समुचित स्थल पर "वदान्त-

प्रवेशिका"—कार द्वारा क्षीर-नीर-न्याय से प्रविष्ट कर दिया गया है।

इस ग्रन्थ में प्राचीन-अर्वाचीन-पद्धतियों का प्रयोग होने से तत्त्वातिरिक्त-समालोचकों के लिए किञ्चित् जटिलता भी हो गई है; किन्तु "प्राचीनमित्येव न साधु सर्वं, नवं न सर्वं, समुपेक्षणीयम् ।" इस न्याय से समन्वय का ही औचित्य समझा गया।

'इस ग्रन्थ में जो कुछ अच्छाई है, वह वेदान्त शास्त्र की है; जो अनुभूत युक्तियां हैं वे आप्त महापुरुषों की कृपा से प्रसूत हैं; जो जो दोष हैं वे ग्रन्थकार के ही मस्तिष्क से जन्य हैं।' ऐसा जानकर भ्रमरवत् सारग्राही महापुरुष एवं गुण-ग्राही जिज्ञासु, ग्रन्थकार को क्रमशः कृपा और प्रेम का ही पात्र जानेंगे।

जिन जिन प्राचीन या अर्वाचीन ग्रन्थकारों के ग्रन्थों के अध्ययन के परिणामस्वरूप यह ग्रन्थ आप के हाथों में है, उन उन सभी ग्रन्थकारों के प्रति "वेदान्त-प्रवेशिका" का रचयिता—सदा ही कृतज्ञ रहेगा।

यद्यपि दो वर्ष पूर्व ही "वेदान्त प्रवेशिका" की प्रेस-कापी तैयार हो गई थी और कुछ प्रारम्भिक मुद्रण भी हुआ; तथापि सन् ६५ और ६६ के द्विवर्षीय भयङ्कर दुष्काल के कारण "मन की मन ही माहिं रही।" यों तो कतिपय भक्तों एवं सज्जनों की बीच बीच में प्रेरणा भी होती रही; परन्तु मुखिया कोई भी न बन पाये। जहां दुष्काल ने धनवानों को भी मूक कर दिया, वहां निर्धनों की भला क्या कथा?

सन् १९६७ के प्रारम्भ में विश्वम्भर की अहैतुकी कृपा से अर्थसमस्या कुछ सुलझ ही रही थी, कि श्री श्री शनैश्चर भगवान् के शनैःशनैश्चरण-चाप से आप ही आप रक्त-चाप, एक अभिशाप के रूप में अर्दित वात को छोड़, बात की बात में वातावरण को मनहूस बना गया। यह समय मई से अगस्त तक बना रहा। यह भी मुद्रण के विलम्ब का कारण बना।

अन्तर्यामी की प्रेरणा से परम पिता-परमात्मा के प्रियभक्त श्री वशीलाल जैन (जम्मू-कश्मीर) ने प्रकारान्तर से आह्वान किया; जो कि अनजाने में "वेदान्त-प्रवेशिका" के प्रकाशन में प्रथम निमित्त बना।

"अर्थाधीनाः क्रियाः सर्वाः" के नियमानुसार फिर भी ननु-नच हो रहा था, कि ब्रह्मविद्या ने साक्षात् स्वरूप धारण कर अपने आप को प्रकट करने-कराने की प्रेरणा दी। ब्रह्म-विद्या—स्वरूपिणी श्रीमती कौशल्या तथा सोमादेवी आदि और श्रीमाता बालकौर तथा रामप्यारी के नाम उल्लेखनीय हैं; जिन्होंने पर्याप्त परिश्रम से अपनी अपनी आत्म स्वरूपिणी शक्तियों का साहाय्य प्राप्त किया और मुद्रण-कार्य को प्रारम्भ करके ही दम लिया।

फिर भी जोर-शोर से चलकर बिफोर-टाइम आ कर भी बिना सिगनल पाई हुई लाचार गाड़ी की भांति परन्तु लक्ष्य प्राप्ति की आशा से मन्थर-गति से गतिशील मुद्रण-गति को

हरी भण्डी की भांति साहाय्य का आश्वासन देकर मन्थर-गति में प्रगति लाने का श्रेय तो पं० श्री घनश्याम जी, प्रिंसिपल G. G M. Sc. कालेज जम्मू, को ही है।

इसके बाद प्लैटफार्म पर गाड़ी को आती देखकर भिन्न भिन्न दिशाओं से, भिन्न भिन्न वेष-भूषा में कर्तव्य निष्ठ कर्मचारियों की भांति कई प्रेमी भक्तों एवं सज्जनों ने भी अपने अपने हृदय की उदारता का परिचय दिया, उन सभी का नाम-स्मरण इसी ग्रन्थ के ६-७-८ पृष्ठों पर किया गया है।

सर्वप्रथम वेतन के १४२) मेंसे १००) की बिना मांगे ही हार्दिक सहायता करने वाले मध्य-प्रदेश के रायपुर जिले के श्री रामलाल कुल्हारा, शिक्षक, दान करने वालों में अग्रणी ही गिने जावेंगे; उनका प्रयत्न सीमा को लांघ गया है।

सर्वोपकरण-समन्वित यात्रार्थ प्रस्तुत रेलगाड़ी को आद्यन्त-निरीक्षण पूर्वक सीटी देकर चलने की आज्ञा देने वाले गार्ड की भांति हमारे आदरणीय धुरन्धर विद्वान् महाभागों को किस प्रकार धन्यवाद दिया जाय; जब कि उन्होंने अमूल्य सम्मति देकर अपने हृदय के वात्सल्य-भाव की ही अभिव्यक्ति की है। उनकी सम्मति जिज्ञासुओं की मति को सम्मति—देने वाली है।

इस "वेदान्त प्रवेशिका" रूप अध्यात्म-विद्या के प्रकाशन में बड़ी ही दिलचस्पी से समय पर उत्तम कार्य करके मुद्रक महोदय श्री विद्याधर मंगोत्रा जी ने अपने नाम को सार्थक किया है। उन्हें भी धन्यवाद है।

"श्री श्री ज्ञानेश्वर द्वीप" (महानदी-मध्यप्रदेश) के प्रबन्धक

श्री बिरभूराम जी ने भी प्रूफ-संशोधन में शारीरिक और मानसिक परिश्रम तो किया ही है; साथ ही इस "वेदान्त-प्रवेशिका" रूप अध्यात्म विद्या के भविष्य में प्रचार का निश्चित विचार किया है। श्री लंगर साहब ने भी आश्वासन दिया है।

शिक्षण-सस्थाओं की महती अनुकम्पा होगी; यदि वे इस ग्रन्थ को समुचित पाकर अपने पाठ्य-क्रम में पाठय-पुस्तक का रूप देने का प्रयत्न करेंगी। यह भी उनकी कृपा ही होगी कि इस की त्रुटियों के दूर करने की सम्मति देंगी कि 'किस तरह यह 'वेदान्त-प्रवेशिका' सर्वोपादेय बन सकेगी ?'

अन्त में आदरणीय अधिकारी विद्वान् महापुरुषों से नम्र निवेदन है कि वेदान्त रूप सत्य के प्रचार की दृष्टि से, मानव-मति-सुलभ-दोषों के कारण होने वाली त्रुटियों के समाधान रूप सदुपदेश के मिस से आदेश भी देकर इस ग्रन्थ की उपयोगिता को बढ़ावेंगे।

इस पुस्तक के अन्तिम (कवर) पृष्ठ ३ में अशुद्धि-संशोधक पत्रक छपा है; कृपया पाठक महोदय उसके अनुसार अशुद्धियों को सुधारकर पढ़ेंगे।

इस ब्रह्मविद्या का प्रचार करने वाले धर्म-स्वरूप महापुरुष, धर्मप्रेमी सज्जन, और माताओं को बार बार धन्यवाद है।

—सम्पादक।

"वेदान्त-प्रवेशिका" के प्रकाशनार्थ धन देने वाले सज्जनों में से कुछ के नाम "श्रीज्ञानेश्वर मन्दिर" के संक्षिप्त परिचय में (और यहां भी) छप चुके हैं। उनके अतिरिक्त द्रव्य-दाताओं के नाम निम्नलिखित हैं-

इन सभी सज्जनों के पुण्य प्रताप से ही यह "वेदान्त प्रवेशिका" छप रही है—इनमें से न्यूनतम ५) देने वाले सज्जन स्थायी ग्राहक माने जावेंगे, उन्हें ग्रन्थ पूरा छप कर मिलेगा। इन सभी धर्मात्माओं का बारंबार धन्यवाद है। "अन्तरात्मा प्रभु उन का कल्याण करें"।

१००) पं० घनश्याम, प्रिंसिपल – साइंस कालेज—जम्मू।
१००) श्रीरामलाल कुल्हारा, शिक्षक (ग्राम बागतराई)
१८५) संग्रहकर्त्री –श्रीमती कौशल्या देवी। विवरण यों है—
२५) कौशल्या, २५) चित्ररेखा, २०) कृष्णा देवी, निम्न प्रत्येक ने १०-१०) दिये :— प्रेमलता, चंचला कुमारी, पुष्पा देवी (अखनूर), सुदेशकुमारी माया देवी, गार्गी देवी, पुष्पा आनंद।

निम्न प्रत्येक ने ५-५) दिये—मोहिनी देवी, दुर्गा देवी, ईश्वर देवी, पुष्पा देवी, शीला देवी, विद्यादेवी, अमरदेवी, कमला मादान, श्री वीरेंद्र मोहन।

७५) संग्रहकर्त्री—श्रीमाता बालकौर और रामप्यारी
[महिला—सत्संग-मण्डल—कनकमण्डी जम्मू]

४०)+२५) सत्संग की ओर से सामूहिक+१०) रामप्यारी
६३) संग्रहकर्त्री—श्रीमती सोमा देवी - १०) सोमादेवी, १०) कान्ता देवी, ५) प्रकाशो, ५) चंचला, ५) कमला, ५) संतोष, ५) निर्मला, ५) मदनलाल, २) सावित्री २) सुभाष चन्द्र, २) निर्मलनन्दा २) संतोष, शर्मा, २) लीलादेवी २) सावित्री २) संतोष देवी।

४०६) स्वामी ज्ञानानन्द सरस्वती जी द्वारा, पुरानी मंडी के मंदिर में सञ्चालित सत्सग में निम्न महानुभावों और माताओं ने प्रेम सहित दान किया।

१००) लंगर साहब पैलेस रोड जम्मू, २०) श्री श्री महात्मा आनन्द सागर जी महाराज, ११) श्री महंत श्री सीताराम दास जी मंदिर (पुरानी मंडी), २५) सीता देवी, ११) शाह प्रहलाद राय, ११) श्री महत जी, पंचवक्त्रेश्वर, १०) उत्तमचन्द, १०) बद्रीसिंह, १०) लाला फकीरचंद, १०) विश्वम्भरदास आनंद, १०) बाबू मनीराम, १०) देवकी नंदन १०) तिलकराज, १०) हरिराम साहनी, १०) विद्याधर, १०) रमेश कुमार शर्मा, १०) प० वंशीलाल (पक्का डंगा) ७) लीला देवी,

निम्न ने ५-५ दिये—धन देवी, अमरदेवी, कौशल्या, सूरजदेवी लंगर, लज्जा, गोदावरी, विद्यादेवी, इन्द्रो देवी, पं० रामचंद्र मिश्र, डॉ० शिवदास जी, प० बसंतराम, इन्द्रजीत मिस्त्री, लाला अमरनाथ जी (+डा० ईश्वरीसिंह+हरिराम चोपड़ा+मोती-

राम), ५) भोजराज,

निम्न ने २-२) दिये–कौशल्या, इन्दिरा देवी, कृष्णा कुमारी, शिव देवी, चिन्तपूरणी. मनोरमा, न्याय देवी, पुष्पा, गुप्तदान, बृजमोहन, गौरीशकर. वेदप्रकाश, कामनाथ. प्रकाश,

निम्न ने १-१) दिये—शिवकुमार, कृष्णलाल, सोमनाथ, जगदीश, चुन्नीलाल, १) कृष्णलाल, १) सुभाष, १) जगदीश, १) ओमप्रकाश, ज्ञानदेवी,१)+१)+१) गुप्तदान जगदीशराज शर्मा, इस तरह कुल ६२६ रुपये प्राप्त होने चाहिए।

इसके अतिरिक्त निम्न सज्जन और भी हैं पु. आ. साखरे १+५), प० गौरी शंकर जी चंडीगढ़ ५), पं० धनीराम ५), मक्खनलाल बरनवाल ५), पं० शिवराम शर्मा ५), श्रीसदा राम मोहन ५), लिमोरावाली माता ५), P.V. आगाशे ५), बलदेव कृष्ण ३०),राधाकृष्ण १०), पं० वसंतराम ५), रामप्यारी ५), सोमादेवी ५), रामदत्त बरनवाल ७), पं० शिव कुमार शर्मा, कुल द्रब्यप्राप्ति=१०२७ होनी चाहिये। किंतु (कुछ सज्जनों के अभी न देने के कारण) हमें ६२५) प्राप्त हुए। इनमें से प्राय: ४५०) खर्च हुए; अवशिष्ट धन का उपयोग ज्ञानेश्वर कवच और 'वेदान्त प्रवेशिका'' के अग्रिम भागों के प्रकाशन में होगा।

श्री निरञ्जन लाल लंगर साहब, जम्मू; और श्री बिरभूराम साहू, गिरौद, ने भी इस "वेदान्त प्रवेशिका" के प्रचार का उत्साह किया है अत: वे धन्यवाद के पात्र हैं। —प्रकाशक

परमाराध्य परमेश्वर श्री श्री ज्ञानेश्वर भगवान् के ही

साक्षात्स्वरूप प्रातः स्मरणीय परमप्रेमास्पद

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय

ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुवर्य अनन्त

श्री विभूषित

"महर्षि मुक्त"

के कर कमलों में

उन्हीं के अनन्य शिष्य

स्वामी ज्ञानानन्द सरस्वती

द्वारा श्रद्धाभक्ति सहित सादर सप्रेम समर्पित

"वेदान्त-प्रवेशिका"

और

"वेदान्त-प्रवेश"

पंचाम्बु विश्व-विद्यालय चण्डीगढ, सं० २०१८

शाङ्कर-सम्प्रदाय-परम्परानुसार—गुरु-परम्परा एवं मङ्गलाचरण

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्या-सम्प्रदाय-कर्तृभ्यो वंश-ऋषिभ्यो महद्भ्यो नमो गुरुभ्यः ॥ सर्वोपप्लव-रहितः प्रज्ञान-घनः प्रत्यगर्थो ब्रह्मैवाहमस्मि ब्रह्मैवाहमस्मि ॥ १ ॥

ॐ नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्ति च तत्पुत्र-पराशरं च ।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्त गोविन्द योगीन्द्र-मथास्य शिष्यम् २।

श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्म-पादं च हस्तामलकं च शिष्यम् ।
त तोटकं वार्तिककारमन्यान् अस्मद्गुरून् सन्ततमानतोऽस्मि ।३।

श्रुति-स्मृति-पुराणानाम् आलयं करुणालयम् ।
नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोक-शङ्करम् ॥४॥

शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
सूत्र-भाष्य-कृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥ ५ ॥

ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्ति-भेद-विभागिने ।
व्योमवद्-व्याप्तदेहाय दक्षिणा-मूर्तये नमः ॥ ६ ॥

यस्यान्तं नादिमध्यं नहि कर-चरणं नाम गोत्रं न सूत्रम् ।
नो जातिर्नैव वर्णो न भवति पुरुषो नो नपुंसो न च स्त्री ।
नाकारं नो विकारं नहि जनि-मरणं नास्ति पुण्यं न पापम् ।
तत्त्वं नो तत्त्वमेकं सहज-समरस सद्गुरुं तन्नमामि ॥७॥

सनन्दनं श्रीसनकं सनातनं सनत्कुमारं च सनत्सुजातम् ।
श्रीवामदेवं च शुकं महान्तं नमामि भक्त्यानिज-बोध-सिद्ध्यै ।८।

मुक्तात्मना भवति मुक्त-पदं तुरीयम्
उक्तं विचिन्त्य निज-मुक्त-सुहृत्प्रदेशे ।
श्रीमुक्त-मुक्त-रस-पूरित-मुक्त-वाण्या
मुक्तोऽह मुक्त-महिमा ह्यथ तन्नमामि ।।९।।

मुक्त-पद मिलता तभी जब भेंट हो मुक्तात्म से ।
मुक्त-हिय में धार यह श्री-मुक्त-प्रभु-निर्मुक्त जो ।
मौक्तिकोपम- मुक्तवाणी से यही निश्चय हुआ ।
मुक्त हूं मैं मुक्त महिमा मुक्त-चरण नमामि हे ।।१०।।

।। नित्य ही पाठान्त में ।।

यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पद-वाक्य-प्रमाणतः ।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम् ।।११।।
ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ—
तस्मान् माङ्गलिकावुभौ ।।१२।।

———

प्रत्यः-पृष्ठार्द्ध-पणक-व्यय-परिमितं पुस्तकम्



"मैं कौन हूं ?"

इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देने वाली

वेदान्त-प्रवेशिका

प्रथम भूमिका—उपोद्घात

।। मङ्गलाचरणम् ।।

ज्ञानेश्वराख्यं नव-नर्मदेश्वरं श्रीमद्हनूसन्तमपीश्वरं निजम् ।
मुक्तं नमस्कृत्य गुरुञ्च दैशिकं करोमि वेदान्त-प्रवेशिकामिमाम् ।।१।।

"मैं" इस परमतत्त्व को न जानकर ही प्राणी जन्म-मरण



"मैं कौन हूँ ?"

इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर दाता

वेदान्त-प्रवेश

प्रथम सोपान—उपोद्घात

"मैं" "मैं" "मैं" इस प्रकार प्रसिद्ध, चराचर-व्याप्त,

के भयंकर चक्र में पड़े हैं; इसलिए "मैं कौन हूँ ?" इस प्रश्न का उत्तर जानना, सभी विवेकी मनुष्यों का परम कर्तव्य है। "मैं कौन हूँ ?" यह ठीक-ठीक न जानना ही अज्ञान है।

यों तो सभी प्राणी अपने आप "मैं" को किसी न किसी रूप में जानते ही हैं, पर इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर तो एक ही हो सकता है; क्योंकि प्रत्येक ज्ञान, वस्तु

हृदय-देश प्रसिद्ध, प्रत्यगात्म-तत्त्व के स्मरण-रूप, समस्त-विघ्न-ध्वंस-पूर्वक-ग्रन्थ-समाप्त्यर्थ, शिष्य-शिक्षार्थ भी, वस्तु-निर्देश-रूप मङ्गलाचरण द्वारा ग्रन्थारम्भ किया जाता है।

"मैं" इस परम तत्त्व को न जानकर ही प्राणी, जन्म-मरण-निबन्धन-चक्र में पड़े हैं, अतएव "मैं कौन हूं ?' इस सार्वभौम प्रश्न का उत्तर जानना, सभी विवेकी मनुष्यों का परम कर्तव्य है।

यों तो सभी प्राणी अपने आप "मैं" को किसी न किसी रूप में जानते ही हैं; परन्तु यह "मैं" तत्त्व, जो और जैसा है, उसे वही और वैसा ही, प्रायः नहीं जानते। (और) ज्ञान के वस्त्वधीन होने से इस प्रश्न के अनेकों यथार्थ उत्तर, नहीं हो सकते। (क्योंकि) यथार्थ उत्तर तो एक ही हो सकता है। उसके अतिरिक्त अवशिष्ट उत्तरों को, उत्तराभास या अध्यास

के अनुसार ही होता है। इस तरह "मैं कौन हूं ?" इसे भली भांति जानना ही ज्ञान है। इसी को आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान भी कहते हैं।

अथवा विपर्यय या भ्रम ही कहेंगे।

इस तरह "मैं कौन हूं ?" इस प्रश्न के यथार्थ उत्तर को न जानने वाला, अध्यासग्रस्त या अज्ञानी माना जाता है। यद्यपि अपने आप "मैं" को सामान्य रूप से तो सभी प्राणी जानते हैं कि—"मैं हूं", पर विशेष रूप से नहीं जानते कि—'मैं कौन हूं ?" (और) "मैं कौन हूं ?" यह ठीक ठीक न जानना ही अज्ञान है।

चूंकि अज्ञानी कहलाना किसी को भी अभीष्ट नहीं है। यह लज्जा की भी बात है कि—और सभी को जानने का दावा करने वाला, अपने आप को ही न जाने!! अत एव अपने आप "मैं" को यथार्थ रूप से जानना अत्यावश्यक है।

"मैं कौन हूं ?" इसे भली भांति जानना ही ज्ञान है; जिससे प्रकृति-पुरुष आदि तत्त्वों का विवेक तो अपने आप ही हो जाता है। इसी ज्ञान को भिन्न-भिन्न शास्त्रों में अधिकारी-भेद से ऋषियों ने उन्हीं के अधिकारानुसार—आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान, तात्त्विक ज्ञान, यथार्थज्ञान, सत्यज्ञान, परमात्मज्ञान, परमज्ञान, प्रकृति-पुरुष-ज्ञान, भगवज्ज्ञान, गुह्यज्ञान, आदि नामों से निरूपित किया है।

अपने आप "मैं" को जाने बिना, दुःखों का आत्यन्तिक-नाश नहीं होता। दुःख कोई नहीं चाहता । जन्म-मरण ही प्रधान दुःख माना गया है। इसी को संसार भी कहते हैं। इस दुःख रूप संसार का नाश होना अत्यावश्यक है।

शास्त्रों में यह प्रसिद्ध है कि—"आत्मज्ञान बिना, सभी दुःखों का आत्यन्तिक-नाश नहीं होता।" (और) दुःख को कोई भी नहीं चाहता। (इसी तरह) कोई भी संसारी प्राणी, दुःख के अस्तित्त्व को अस्वीकार भी नहीं कर सकता। (प्रायः सर्व सम्मत से) जन्म-मरण ही प्रधान दुःख माना गया है। इसी को संसृति या संसार, अथवा भव-बन्धन या भव-सागर आदि नामों से भी कहते हें। इस तरह यह संसार; जो कि सर्व दुःखों का आश्रय एव स्वयं भी दुःख रूप ही है; आत्मा के अज्ञान से ही सिद्ध है। अर्थात् —"मैं" को न जानने से ही सभी दुःख होते हैं।

भले ही लौकिकालौकिक सुख-साधनों के द्वारा, थोड़े समय के लिए, किसी प्रकार, किसी एक दुःख का नाश हो भी जाय; पर उन साधनों द्वारा, सदा के लिए, किसी भी दुःख का विनाश नहीं हो सकता। यद्यपि यह दुःख रूप जड़ संसार, "मैं" के पारमार्थिक स्वरूप, चैतन्य-ब्रह्म में अध्यस्त है तथापि आत्मज्ञान बिना इसका आत्यन्तिक नाश नहीं हो सकता।

'सभी दुःखों की आत्यन्तिकी-निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति' को ही मोक्ष कहते हैं। यही परम पुरुषार्थ है। यह मोक्ष, आत्मज्ञान के बिना होता ही नहीं; अतः आत्मज्ञान परमावश्यक है।

मोक्ष की इच्छा से आत्म तत्त्व को यथार्थ रूप से

उपर्युक्त दुःख दूर हो सकता है--इसमें शास्त्रों और आप्त पुरुषों के वचन प्रमाण हैं। इस तरह सिद्ध—हुआ कि—'आत्मज्ञान ही दुःख नाश का उपाय है।

इसी भय-प्रद-भव-बन्धन से छूटने का ही नाम मोक्ष है। वेदान्त शास्त्रों में सर्वानर्थ रूप संसार की आत्यन्तिकी निवृत्ति और सर्वसुखाधिष्ठान परब्रह्म रूप परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं। यों तो लोक में धर्म, अर्थ और काम भी पुरुषार्थ माने गये हैं, पर ये वास्तव में परम-पुरुषार्थ नहीं हैं। (क्योंकि) इनसे प्राप्त होने वाले पदार्थ नश्वर और दुःख-मिश्रित, अतएव विवेकियों द्वारा हेय ही होते हैं, चाहे वे लौकिक हों या अलौकिक। इस तरह मोक्ष ही परमपुरुषार्थ सिद्ध हुआ। चूंकि यह मोक्ष, आत्मज्ञान के बिना होता ही नहीं, अतएव मोक्ष-प्राप्त्यर्थ भी 'मैं कौन हूं ?" इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर जानना परम आवश्यक है।

येन-केन प्रकारेण लौकिक-सुख-भोगेच्छु-पामर और न्याय-

जानने की तीव्र इच्छा और तदनुकूल प्रयत्न करने वाला मुमुक्षु जिज्ञासु ही आत्मज्ञान का अधिकारी है।

चूंकि इच्छामात्र से ही पदार्थों की प्राप्ति होती

पूर्वक ही लौकिकाऽलौकिक-सुख-भोगेच्छु विषयी तो क्रमशः अपनी-अपनी अत्यन्त-मूढ़ और चञ्चल वृत्तियों वाले होने से सवथा अनधिकारी होने के कारण—तथा आत्म-स्वरूप को यथार्थ-रूप से जानने वाले वाले ज्ञानी, तत्त्वज्ञ अत एव कृतकृत्य होने के कारण—इस आत्मज्ञान के लिए न तो इच्छा ही करते हैं, न ही प्रयत्न करते हैं।—अत एव-मोक्ष की ही इच्छा से, आत्मतत्त्व को यथार्थ रूप से जानने की तीव्र इच्छा और तदनुकूल प्रयत्न करने वाला मुमुक्षु जिज्ञासु ही आत्मज्ञान का अधिकारी है।

[यद्यपि जिज्ञासु का अज्ञानी होना दोष नहीं है; पर उसके चित्त में—अत्यन्त मूढ़ (चित्त–) वृत्ति रूप मल, एवं (चित्त–) चाञ्चल्य रूप विक्षेप, कभी नहीं होना चाहिए।]

चूंकि कोई भी लौकिकालौकिक पदार्थ इच्छा करने मात्र से ही उपलब्ध नहीं होते; किन्तु उनकी प्राप्ति के अनुकूल प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है; इसी तरह आत्मज्ञान भी प्राप्तव्य कहा जाता है; अतएव आत्मज्ञान के अधिकारी जिज्ञासु को भी, आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए, उसकी सिद्धि के कारण भूत साधन-चतुष्टय रूप अनुकूल साधनों की परमावश्यकता है।

नहीं, अत एव आत्मज्ञान के लिए भी तदनुकूल साधनों की परमावश्यकता है।—वे साधन चार हैं। यथा—

१. आत्मा और अनात्मा को अलग-अलग पहचानना ही विवेक है।

२. इसलोक और परलोक के भोगों को पाने की इच्छा न करना ही—वैराग्य है।

३. तीसरा साधन है-शमादिषट्क सम्पत्ति। इनके लक्षण और नाम कहे जाते हैं।

उनमें से—१. विषयों में मन को न जाने देना—

आत्मज्ञानोपयोगी नितान्त अपेक्षित वे चार साधन कहे जाते हैं—

१—आत्मा और अनात्मा (दोनों) को अलग-अलग पहचानना ही विवेक (नामक पहला साधन) है।

२-इस लोक और परलोक के भोग (पदार्थों) को (काकविष्ठावत्) हेय (=त्याज्य) जानकर, (उनको) पाने की इच्छा न करना—ही वैराग्य है।

३—तीसरा साधन हैं शमादिषट्सम्पत्ति—अर्थात्-शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान-ऐसे छः साधनों के समुदाय की प्राप्ति। उनमें से—

१. (पञ्च) विषयों में मन को न जाने देना—शम है।

शम है। और २. विषयों में इन्द्रियों को न जाने देना—दम है। ३. विषयों की अत्यन्त अनिच्छा और त्याग ही उपरति है। ४. मोक्ष-प्राप्ति के लिए ही–सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को सहना–तितिक्षा है। ५. श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-आचार्य-सद्गुरु और वेदान्त-शास्त्र के वचन,-सर्वथा सत्य हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास ही–श्रद्धा है। ६. अन्तः करण की निर्मलता से ध्यान में चित्त का

और २. (पञ्च) विषयों में इन्द्रियों को न जाने देना—दम है।

३. (पञ्च) विषयों की अत्यन्त अनिच्छा और सभी अनपेक्षित अनावश्यक विषय भोगों का स्वरूप से भी त्याग ही, उपरति है।

४. मोक्ष-प्राप्ति के लिए ही–स्वाभाविक रूप से प्राप्त शीत-उष्ण, भूख-प्यास, मान-अपमान, राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को अनिवार्य जानकर, उन्हें प्रसन्नता पूर्वक सहने के अभ्यास से उत्पन्न, स्वाभाविक शक्ति ही—तितिक्षा है।

५. श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-आचार्य-सद्गुरु और सच्छास्त्र-शिरोमणि वेदान्त-शास्त्र के वचन, सर्वथा सत्य हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास ही—श्रद्धा है।

६. मन और इंद्रियों की चञ्चलता के दूर होने पर—अन्तःकरण की निर्मलता से किये गये ध्यान के अभ्यास में—

स्थिर होना—समाधान है ।—इन छहों साधनों के समुदाय की प्राप्ति ही, शमादि-षट्क-सम्पत्ति है ।

४. चौथा साधन है—मुमुक्षा । इसका लक्षण और परिचय दिया जाता है—किसी नदी या तालाब के जल में बल पूर्वक दबाये गये व्यक्ति की जैसी तीव्र इच्छा, पानी से निकलने की होती है; वैसी ही तीव्र इच्छा यदि संसार रूप दुःखसागर से निकलने की हो तो—उस (इच्छा) को ही मुमुक्षा, मोक्षेच्छा अथवा आत्मजिज्ञासा कहते हैं ।

चित्त का स्थिर रहना--समाधान है । इन्हीं छहों साधनों को शमादि-षट्क-सम्पत्ति कहते हैं ।

४—चौथा साधन है--मुमुक्षा । इसका लक्षण और परिचय दिया जाता है--जैसे-ज्येष्ठ-वैशाख मास के, मध्याह्न वेला की कड़ी धूप में, भूमध्य रेखा-सन्निकटवर्ती-मरुस्थल की तपी हुई गर्म रेत पर, नगे सिर नंगे पैर चलने वाला पथिक, दूर दिखने वाले पेड़ के पास अत्यंत शीघ्र पहुंचने का प्रयत्न करता है--इसके अतिरिक्त उसे दूसरे कार्य का ध्यान ही नहीं आता; वैसे ही जिज्ञासु की ब्रह्मप्राप्ति या मुक्ति के लिए ही होने वाली तीव्र इच्छा को मुमुक्षा, मोक्षेच्छा, आत्मजिज्ञासा या ब्रह्म-जिज्ञासा कहते हैं । इसी को मुमुक्षुत्व आदि नामों से भी कहते हैं ।

शास्त्रों में चार कृपाओं के होने पर ही मोक्ष-प्राप्ति कही गई है। उनमें से—१. 'उपर्युक्त साधन-

---

आत्म-जिज्ञासु के लिए सकाम-कर्म तो हेय ही हैं; पर निष्काम-कर्म भी अन्तःकरण-शोधक होने से अतएव बहिरङ्ग साधन होने के कारण, तथा ब्रह्मज्ञान के लिए अनपेक्षित होने से साधन-चतुष्टय में नहीं गिने गये हैं।

हां, श्रुति-सम्मत—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और महा-वाक्य-विवेक, ये चारों क्रमशः पूर्व-पूर्व साधन द्वारा जन्य और उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं; वे सभी आत्मज्ञानोपयोगी एव अत्यावश्यक होने से अन्तरङ्ग साधन माने जाते हैं।

इस प्रकार साधन-चतुष्टय-सम्पन्न अधिकारी को भी मोक्ष-प्राप्त्यर्थ, सत्शास्त्रानुमोदित, कृपा-चतुष्टय की अत्यावश्य-कता है; जिनमें से आत्मज्ञानोपयोगी समस्त-साधन-प्राप्ति रूप ईश-कृपा तो जिज्ञासु को प्राप्त ही है; पर उसे गुरु कृपा तो अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि गुरु-कृपा प्राप्त होने पर शास्त्र-कृपा तो हो ही जाती है। तत्पश्चात् आत्म-कृपा के होने पर ही ये तीनों कृपाएं सफल होती हैं; अन्यथा व्यर्थ सी अर्थात् अधूरी ही—हो जाती हैं।

उनमें से—१. मोक्ष-सम्पादन के उपयुक्त सम्यक्-शरीरेन्द्रि-यान्तःकरण-परिवार-वातावरण-विद्या-धर्म-सदाचार आदि सभी आवश्यक सुविधाओं के सहित उपर्युक्त साधन चतुष्टय और

चतुष्टय और सद्गुरु की प्राप्ति' ही ईश कृपा है।

२. 'सेवा-शुश्रूषादि से प्रसन्न सद्गुरु की आत्मज्ञानोपदेश देने में प्रवृत्ति' ही गुरु कृपा है।

३. 'सद्गुरु के उपदेश द्वारा शास्त्रों के रहस्यों का ज्ञान होना' ही शास्त्र कृपा है।

४. और उपर्युक्त तीनों कृपाओं की सहायता से 'निरन्तर फल-प्राप्ति-पर्यन्त, लक्ष्यानुकूल प्रयत्न करना' ही—आत्म कृपा या अन्तःकरण की कृपा है। अब सद्गुरु के लक्षणों का स्पष्टीकरण किया जाता है- उनमें से—

सद्गुरु की प्राप्ति ही ईश-कृपा है।

२. 'सेवा-शुश्रूषा आदि से प्रसन्न, श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-आचार्य-सद्गुरु की आत्मज्ञानोपदेश देने में प्रवृत्ति' ही गुरु कृपा है।

३. 'सद्गुरूपदेश द्वारा सत्शास्त्रों के रहस्यों का ज्ञान होना' ही शास्त्र कृपा है। और—

४. उपर्युक्त तीनों कृपाओं की सहायता से, आत्म-तत्त्व के श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि रूप अभ्यास द्वारा, दीर्घकालिक श्रद्धा-उत्साह-पूर्वक निरन्तर ही अनुभव-रूप-लक्ष्य-सिद्धि-पर्यन्त

१. श्रुति-स्मृति के रहस्यों को जानने वाला श्रोत्रिय कहलाता है।
२. ब्रह्म को आत्म रूप से जानकर उसी निश्चय में सदा ही रहने वाला ब्रह्मनिष्ठ है।
३. सभी सदाचरणों से सम्पन्न, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष की ही आचार्य संज्ञा है।

लक्ष्यानुकूल सादर प्रयत्न करना ही आत्म-कृपा है—जिसे अन्तः-करण की कृपा भी कहते हैं।

अब सद्गुरु के लक्षणों का स्पष्टीकरण किया जाता है-- उनमें से।

१. श्रुति-स्मृति-आदि सत्शास्त्रों के रहस्यों को जानने वाला और शिष्यों की तद्विषयक शङ्का का समाधान भी करने बाला-श्रोत्रिय है।

२. वेदान्तवेद्य-वास्तविक तत्त्व स्वरूप परंब्रह्म को ब्रह्मा-कार-वृत्ति-पूर्वक आत्मरूप से जानकर उसी ब्रह्मात्म-निश्चय में सदा ही स्थिर रहने वाला—ब्रह्मनिष्ठ है।

३. उपर्युक्त दोनों लक्षणों वाले महापुरुष में, जिज्ञासु के दर्शन काल में, सदाचार-सम्पन्नता एव जिज्ञासु के आत्म-कल्याण करने की भावना भी होनी चाहिए। अन्यथा—एक दो दिन के शृङ्खला-रहित-सार्वजनिक-उपदेश से प्रायः जिज्ञासुओं के हृदय में समस्त-संशयोच्छेद-पूर्वक-अज्ञान-नाश नहीं होता;

४. अपने ज्ञानोपदेश से शिष्य के हृदय के अज्ञान को ज्ञान के रूप में बदल देने वाला गुरु है—
तथा सत्य तत्त्व का अनुभव कराने वाला सद्गुरु है।

इसलिए साधन चतुष्टय सम्पन्न जिज्ञासु, आत्मज्ञान के लिए, उपर्युक्त लक्षणों वाले सद्गुरु की शरण में जावे और मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे।

और आचरण हीन में तो श्रद्धा ही नहीं होती। तथा श्रद्धा-विश्वास के बिना मूल्याति-मूल्य उत्तम उपदेश का भी समुचित आदर नहीं होता। एवं आदर बिना उपदेश-ग्रहण में रुचि और उत्साह का अभाव ही होता है। और उपदेश के हृदयङ्गम हुए बिना जिज्ञासु का आत्मकल्याण होता ही नहीं—अतः जिज्ञासु को आत्म-ज्ञान का उपदेश करने में समर्थ, सभी अपेक्षित सदाचरणों से सम्पन्न, श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-महापुरुष की ही शास्त्रों में आचार्य संज्ञा है।

४. उपर्युक्त 'श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ और आचार्य', इन तीनों लक्षणों वाले महा-पुरुष, जब एक अद्वितीय आत्मा रूप सत्य तत्त्व का उपदेश करते हैं, तब उनकी सद्गुरु संज्ञा होती है। क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि 'अपने ज्ञान के उपदेश के द्वारा शिष्य के हृदय में रहने वाले अज्ञानान्धकार को ज्ञान रूप प्रकाश में बदल देने वाला गुरु है'।

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता एवं तदविरुद्ध तदनुसारी शास्त्रों को 'वेदान्त' कहते हैं। उन वेदान्तों

अनन्त जन्मों के पुण्य-परिपाक से प्राप्त होने वाले दुर्लभ-स्वरूप इन महापुरुषों की शरण में जाकर, तन-मन-वचन-धन-जन आदि द्वारा उनकी सेवा कर, उनकी आज्ञा में रहने वाला जिज्ञासु, उन सद्गुरु के प्रसन्न होने पर उनसे अति नम्रता पूर्वक मुक्ति रूप शाश्वत-शान्ति की सम्यक्प्राप्ति के लिए वेदान्तों में कहा गया तत्त्वज्ञान सुनने की इच्छा प्रकट करे।

(शाङ्कर-भाष्य-सहित) श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र एवं तदविरुद्ध तदनुसारी शास्त्रों एव प्राचीन अर्वाचीन ग्रन्थों को वेदान्त कहते है। उपनिषद् का पर्याय वेदान्त, और ब्रह्मसूत्र के पर्याय शारीरक-सूत्र. वेदान्त दर्शन, वेदान्त-शास्त्र, और उत्तर मीमांसा हैं।

यों तो उपर्युक्त लक्षण-त्रय-समन्वित-सद्गुरु, किसी भी सद्ग्रन्थ के माध्यम से, या किसी ग्रन्थ के बिना भी, जिज्ञासु को बोध कराने में समर्थ होते ही हैं; पर इस "वेदान्त-प्रवेश" नामक ग्रन्थ-रत्न के कारण, सद्गुरु को भी भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के ऊहापोह और क्रम-सन्निवेश, तथा वेदान्त-शास्त्रोक्त-तत्त्व-विस्तार का स्मरण रूप कष्ट नहीं होगा।

जिज्ञासुओं को भी सद्गुरु-प्रोक्त वेदान्त-पाठ के पुनर्विचारार्थ सौकर्य तथा भी अनेकों सुविधाएं रहेंगी।

इसका का कारण यह है कि—इस ग्रन्थ के निर्माता "श्री स्वामी ज्ञानेश्वर 'मुक्त' जी", यथानाम तथागुण एवं सद्गुरु के उपर्युक्त सभी लक्षणों के आश्रय हैं। उन्होंने परम्परा-प्राप्त-सदाचार-सम्पन्न भक्त एवं लोक-वेद-सम्मानित-श्रेष्ठ-योगी-कुल में शरीर ग्रहण किया है। उन्होंने सम्प्रदाय-परम्परा से वेदान्त एवं अन्य सभी दर्शनों के भी प्रारम्भ से लेकर उच्च कोटि के ग्रन्थों का भली भांति गम्भीर अध्ययन किया है। काशी-कश्मीर-कुरुक्षेत्र एवं पञ्चाम्बु-प्रदेशीय-विश्वविद्यालयों के सम्मानित-स्नातक होने से उन्हें पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ कहने में कोई भी अत्युक्ति नहीं है।

तीर्थ-पावन, वेदज्ञानमूर्ति, तपोमूर्ति, अकारण-करुण महान् पुरुषों की शरण में जाकर सेवा-शुश्रूषा द्वारा उन्हें प्रसन्न कर, उनकी कृपा से ही ग्रन्थकार ने इस वेदादि-शास्त्र-सम्मत-आत्मानुभव को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष किया है, अतएव वे तत्त्व के यथार्थ-ज्ञाता हैं। उन्हें भारत-प्रख्यात, जगद्गुरु आद्य-शङ्कराचार्य के अवतार-स्वरूप, श्रीज्ञानेश्वर भगवान् के साक्षात्-स्वरूप, "महर्षि मुक्त" नाम की अन्वर्थ संज्ञा को सुशोभित करने वाले सद्गुरु भगवान् के अनन्यतम शिष्य एवं इसके अतिरिक्त श्री श्री महर्षि मुक्त द्वारा सस्थापित "श्री मुक्त आश्रम" के सर्व प्रथम सञ्चालक होने का भी गौरव प्राप्त है।

उन्होंने आधुनिक साजसज्जा से सुसज्जित नगरों और अस्त व्यस्त वृक्षादि समन्वित अरण्यों में भी; श्री श्री लक्ष्मी देवी के कृपापात्र श्रीमानों के सुधा-धवलित गगन-चुम्बी प्रासादों और

में आत्मज्ञान की प्रक्रियाएं कही गईं हैं। उन्हीं वेदान्त-शास्त्रों में, बाल-मति के भी सुख पूर्वक प्रवेश कराने के लिए, यह 'वेदान्त-प्रवेशिका' नामक लघु पुस्तिका, आत्मज्ञानार्थ भी बनाई गई है।

अट्टालिकाओं में तथा उन्हीं लक्ष्मी देवी की ज्येष्ठ-भगिनी-दरिद्रता की गोद में पले पोसे गरीबों की घास-फूस की झोपड़ियों में भी हिमालय की हृदय कंपाने वाली स्वर्ग के स्पर्श की स्पर्द्धिनी बर्फीली चोटियों पर और प्रचण्ड-चण्डकर-किरण-ऊष्मा-सन्तप्त-मरुभूमि पर भी; भारतीय-समुद्र-तटस्पर्शि-उत्ताल-तरङ्गों एवं गङ्गा-गोदावरी सिन्धु-सरस्वती की कल-कल निनादिनी निर्मल-जल-धाराओं में भी; समान रूप से निवास, आवास पर्यटन, स्नान आदि पूर्वक इस आध्यात्मिक-सैद्धान्तिक-तत्त्व ज्ञान का प्रयोगों द्वारा अनुभव किया है।

ये ही वे कारण हैं-जिनसे उनकी सरल-सरस-स्पष्ट-मर्मस्पर्शी, विवेचन रूप अध्यापन-शैली, जिज्ञासुओं के हृदय को आनन्द-निमग्न कर पूर्णतया सन्तुष्ट कर देती है। सच्छास्त्रानुमोदित स्वानुभूत-तथ्यों के सारभूत इस ग्रन्थरत्न को निर्मित कर, उन्होंने जिज्ञासुओं पर महती कृपा की है; जिसके लिए समस्त विश्व सदा के लिए उनका ऋणी, कृतज्ञ एवं आभारी रहेगा।

यह "वेदान्त-प्रवेश" अध्यात्म विषयक सभी सच्छास्त्रों के सार अंश से युक्त है। आत्म-ज्ञानोपयोगिनी जितनी भी

"यह 'वेदान्त-प्रवेशिका' सर्वजन प्रिय एवं सर्व सुलभ हो" ऐसा दृष्टिकोण हृदय में रखकर सार्वभौम-सिद्धान्त-महामण्डल-सम्राट् परमहंस-परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुवर्य अनन्त श्रीविभूषित "महर्षि मुक्त" के अनन्य शिष्य "श्री स्वामी ज्ञानानन्द सरस्वती"

आवश्यक प्रक्रियाए हैं वे सभी इस ग्रन्थरत्न में विद्यमान हैं। यद्यपि भाषा एवं भाव आदि दृष्टियों से इसे अधिकाधिक सरल करने का यथासम्भव प्रयत्न किया ही गया है, तथापि सर्व शास्त्र-मूर्धन्य दर्शनीयतम दर्शन-शिरोमणि वेदान्त-दर्शन के गम्भीर तत्त्वों के रहस्योद्घाटन के प्रयास में कहीं कहीं गम्भीरता रूप काठिन्य भी गुलाब के फूल के कांटे की भांति सन्निविष्ट हो ही गया है। अतएव इस ग्रन्थ को बिना गुरु के ही समझने की इच्छा करने वाले पल्लवग्राही-जिज्ञासु का वह प्रयत्न, मन्दिर के गुम्बज में गड़े या शम्भशाह के नाम ज़मा किये गये द्रव्य को पाने के समान असफल भी हो सकता है; अतएव जिज्ञासुओं के लिए उचित और अपेक्षित है कि वे इस ग्रन्थ को श्री सद्गुरु द्वारा ही समझने का प्रयत्न करें।

"यह ग्रन्थ "वेदान्त प्रवेश" सर्वजन प्रिय एवं सर्व सुलभ हो" ऐसा दृष्टि-कोण रखकर, इसकी रचना स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही की गई है। मानवीय बुद्धि के क्रमिक विकास के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर (प्रथम, मध्यम और

जी ने 'वेदान्त-प्रवेश' का सार भाग लेकर इस लघु-कलेवरा 'वेदान्त-प्रवेशिका' की रचना राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही की है।

यद्यपि 'वेदान्त-प्रवेशिका' की रचना सरल-सरस-संक्षिप्त और स्पष्ट है; फिर भी जिज्ञासुओं को चाहिये कि वे इस ग्रन्थ को श्री सद्गुरु द्वारा ही समझें।

उत्तम या उच्च, ऐसे) तीन स्तरों की बुद्धि वाले जिज्ञासुओं के लिए पृथक् पृथक् तीन ही ग्रन्थ रचे गये हैं। उनमें से प्रथम दो तो स्वतन्त्र भी हैं; परन्तु अन्तिम ग्रन्थ तो इसी ग्रन्थ का भिन्न भिन्न शास्त्रों के प्रमाण पूर्वक, युक्ति-प्रत्युक्ति-पुरस्सर शङ्का समाधान गर्भित - पूर्वोत्तर पक्षापेक्षित, तत्त्व विश्लेषणान्वेषणात्मक, अत एव स्वानुभूत शास्त्रार्थ निर्णय-रूप विस्तृत-व्याख्यान ही है। अत एव जिज्ञासुओं को स्व स्वाधिकारानुसार यथाक्रम ही इन ग्रन्थों का अध्ययन उचित है। ["वेदान्त-प्रवेशिका" को] समझे-बूझे हुए जिज्ञासु के लिए भी यह ग्रन्थ-रत्न सावधानी से ही अध्ययन करने योग्य है।

श्री सद्गुरु कृपा की प्राप्ति के अनन्तर शास्त्र कृपा की प्राप्ति के लिए क्रमशः श्रवण मनन निदिध्यासन-रूप अभ्यासात्मक आत्मकृपा के द्वारा श्री सद्गुरु-प्रोक्त-वेदान्त निर्दिष्ट प्रत्यगात्म-तत्त्व को निःसन्दिग्ध एवं करामलकवत् साक्षादपरोक्ष स्पष्ट ही जानना चाहिए।

यद्यपि आत्म ज्ञान के लिए यह 'वेदान्त-प्रवेशिका' पर्याप्त ही है; फिर भी जिन्हें शास्त्रों की अधिक जानकारी करनी हो, वे क्रमशः 'वेदान्त-प्रवेश' और 'वेदान्त-प्रवेश-विमर्श' नाम के ग्रन्थों का अवलोकन और अध्ययन करें।

श्रीसद्गुरु कृपा की प्राप्ति के अनन्तर शास्त्र कृपा की प्राप्ति के लिए क्रमशः श्रवण मनन-निदिध्यासन, रूप आत्मकृपा के द्वारा सद्गुरुप्रोक्त-वेदान्तनिर्दिष्ट आत्मतत्त्व को निःसन्दिग्ध एवं करामलकवत्-स्पष्ट ही जानना चाहिए।

१. श्री सद्गुरु-प्रोक्त वेदान्त-शास्त्र को भली प्रकार समझना ही-श्रवण है।

---

१. श्री सद्गुरूपदेश द्वारा ही वेदान्त शास्त्र के रहस्यों को मन की एकाग्रता एवं शुद्ध-सूक्ष्म-बुद्धि द्वारा भली प्रकार समझना ही-वेदान्त श्रवण है।

२. उपर्युक्त विधि से सुने हुए अर्थ का सच्छास्त्रों के स्वाध्याय-पूर्वक वेदानुकूल सद्युक्तियों द्वारा विचार करना ही—मनन है।

३. उपर्युक्त विधि से मनन किये गये तत्त्व के—विजातीय-प्रत्यय-तिरस्कार-पूर्वक, सजातीय-प्रत्यय-प्रवाह को ही निदिध्यासन कहते हैं।

---

२. उपर्युक्त रीति से सुने हुए अर्थ का वेद-वेदान्त-शास्त्र-आगम-पुराणेतिहासादि सच्छास्त्रों क स्वाध्याय से युक्त सद्युक्तियों की सहायता से ऊहापोह पूर्वक वेदानुकूल सत्तर्कों द्वारा विचार करना ही—वेदान्त मनन है।

३. उपर्युक्त रीति से मनन किये गये तत्त्व के–असद्रूप विजातीय-प्रत्यय-तिरस्कार - पूर्वक, सद्रूप सजातीय-प्रत्यय-प्रवाह रूप पौनः पुन्य कृताऽभ्यास ही-वेदान्त निदिध्यासन है।

४. तदनन्तर इन्हीं श्रवण-मनन-निदिध्यासन रूप साधन-त्रयी के द्वारा उपक्रमोपसंहार-अभ्यास-अपूर्वता-फल-अर्थवाद-उपपत्ति रूप षड्लिङ्गों के विवेक पूर्वक महावाक्यों के तात्पर्य रूप-लक्ष्यार्थ का निश्चय करना चाहिए।

जीव और ब्रह्म की एकता के बोधक वाक्य ही महावाक्य हैं। जीव ब्रह्मैक्य-निश्चय में पूर्ण निष्ठा ही महावाक्य-विवेक का फल है–और यही ब्राह्मीस्थिति है; जो वेदान्त-विचार तथा मानव-जीवन का भी अन्तिम लक्ष्य है।

इन्हीं श्रवण-मनन-निदिध्यासन के द्वारा महावाक्यों के अर्थ का निश्चय करना चाहिए।

जीव और ब्रह्म की एकता के बोधक वाक्य ही महावाक्य हैं। ये चार हैं।

१. ऋग्वेद का— 'प्रज्ञानं ब्रह्म'

२. यजुर्वेद का— 'अहं ब्रह्मास्मि'

३. सामवेद का— 'तत्त्वमसि', और

४. अथर्ववेद का— 'अयमात्मा ब्रह्म'

इन महावाक्यों के द्वारा ही यह ब्रह्मात्म-तत्त्व निःसन्दिग्ध जाना जाता है। चारों वेदों के सार रूप चार ही (प्रमुख) महावाक्य प्रसिद्ध हैं। यथा—

१. ऋग्वेद का 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐतरेय. ३-३),

२. यजुर्वेद का 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यक १-४-१०)

३. सामवेद का 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य ६/८-१६) और

४. अथर्ववेद का 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य २)

श्री सद्गुरु की कृपा से इन्हीं महावाक्यों के विवेक द्वारा "दशम पुरुष" के समान आत्मस्वरूप का दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान होता है, यही ब्रह्मात्म-ज्ञान है।

प्रक्रिया दशा में ब्रह्म ज्ञान तीन प्रकार का कहा सुना जाता है।

महावाक्य-जन्य ज्ञान ही दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मात्म-ज्ञान कहा जाता है। प्रक्रिया रूप से ब्रह्मज्ञान त्रिविध कहा जाता है। उनमें से—

१. श्रीसद्गुरुप्रोक्त-शास्त्र के श्रवण से होने वाला "ब्रह्म है" ऐसा दृढ़ निश्चय रूप ज्ञान, परोक्ष ज्ञान है।

२. परोक्ष ज्ञान ही मनन द्वारा स्वानुभूत होकर अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान कहलाता है। ब्रह्म का आत्म रूप से सम्भावित किंतु निश्चित ज्ञान, अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान है।

३. महावाक्य विवेक पूर्वक निदिध्यासन के पुनः पुनः दृढ़ अभ्यास से प्राप्त—"वह ब्रह्म मैं ही हूँ" इत्याकारक

---

१. श्री सद्गुरु प्रोक्त शास्त्र के श्रवण से होने वाला, "ब्रह्म है" इत्याकारक दृढ़-निश्चय रूप, ज्ञान, परोक्ष ज्ञान है।

२. परोक्षज्ञान ही मनन द्वारा स्वानुभूत होकर अदृढ़ अपरोक्षज्ञान कहलाता है। ब्रह्म का आत्म रूप से सम्भावित किन्तु निश्चित ज्ञान अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान है।

३. महावाक्य विवेक पूर्वक निदिध्यासन के पुन: पुन: अत्यन्त दृढ़ अभ्यास से प्राप्त तत्त्वनिष्ठा ही, "वह ब्रह्म मैं ही हूं" इत्याकारक सुनिश्चित ज्ञान रूप—दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मात्मज्ञान है। इसी को ब्रह्म ज्ञान या आत्मज्ञान भी कहते हैं। इसी से ब्रह्मात्मैक्य रूप मुक्ति का लाभ होता है।

सुनिश्चित ज्ञान रूप तत्त्वनिष्ठा ही—दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मात्म ज्ञान है। यह ब्रह्म ज्ञान या आत्मज्ञान ही, मुक्ति का हेतु है। इसी से मोक्ष रूप परमानन्द का अनुभव होता है; जिसके लिए देह त्याग की आवश्यकता नहीं है। परमानन्द के अनुभवी का पुनर्जन्म नहीं होता। शरीर छूटने पर यह निश्चित रूप से ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है ॥१॥

सभी वैदिकावैदिक अध्यात्म-शास्त्रों द्वारा यह सिद्ध है कि तत्त्व-ज्ञान या आत्मज्ञान से ही मोक्ष होता है। यों तो सभी दर्शन-शास्त्र, मोक्षदशा में सर्व दुःखों का आत्यन्तिकाभाव मानते ही हैं; किन्तु यह वेदान्त-दर्शन तो साथ ही परमानन्द-प्राप्ति का भी अनुभव कराता है।

इस परमानन्द के अनुभव के लिए देह त्याग की आवश्यकता नहीं है। यह इसी देह में हो सकता है। ऐसा होने पर ही यह जीवात्मा कृतकृत्य होता है; फिर इसका पुनर्जन्म नहीं होता। यद्यपि यह जीवात्मा अभी भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्मस्वरूप ही है; पर शरीर छूटने के बाद यह ब्रह्मवेत्ता तो (सर्वसम्मत से) निश्चित रूप से ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है ॥ १ ॥

इस प्रकार "श्रीस्वामी ज्ञानानन्द सरस्वती" द्वारा विरचित "वेदान्त-प्रवेशिका" में 'उपोद्घात' नाम वाली प्रथम भूमिका पूरी हुई ॥१॥

इस प्रकार "श्री स्वामी ज्ञानेश्वर 'मुक्त" द्वारा विरचित इस 'वेदान्त-प्रवेश' नामक मोक्षशास्त्र में 'उपोद्घात' नामक प्रथम सोपान पूर्ण हुआ ॥ १ ॥

☞ **सूचना :—** निम्न पुस्तकें 'श्री ज्ञानेश्वर मन्दिर" द्वारा प्रकाशित हो चुकी हैं, अतएव जिन्हें इच्छा हो वे लागत खर्च और डाक खर्च देकर प्राप्त कर सकते हैं :—

१. "श्री ज्ञानेश्वर-कवच-स्तोत्रम्" [संस्कृत में]।
२. श्री ज्ञानेश्वर मन्दिर का संक्षिप्त-परिचय [हिन्दी में]।
३. श्री हरिनाम संकीर्तन ध्वनि :- कीर्तन करने योग्य है।
४. श्रीमद् भगवद् गीता-सार [हिन्दी]
५. वेदान्त-सूत्र ,,
६. नारायणोपनिषद् [संस्कृत]
७. सद्गुरु की आरती + श्री शिव जी की आरती।
८. सर्वदुःखनाशकविचारौषधि।
९. १०० वर्ष का कैलेण्डर—(एक ही पृष्ठ में)।
१०. ज्यौतिष-फलादेश (संपूर्ण जीवन का आश्चर्यजनक विवरण)।

वेदान्त प्रवेशिका में द्वितीय भूमिका

अध्यारोप

[श्रुति-सम्मत–सृष्टि-प्रक्रिया]

प्रत्यगात्म—स्वरूप, अप्रमेय, परमार्थ, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म में —

वेदान्त–प्रवेश में द्वितीय सोपान

अध्यारोप

[श्रुति-सम्मत—सृष्टि-प्रक्रिया]

प्रत्यगात्म—स्वरूप, निर्गुण-निरञ्जन-निर्विशेष, अप्रमेय,

सूचना—इस सोपान में उद्देश-कथन पर ही ध्यान रखा गया है, नामों की परिभाषा पर नहीं; इसीलिए प्राय:कुछ नामों की ही परिभाषाएं स्वाभाविक रूप से कही गई हैं, सभी की नहीं; अतएव—परिभाषा जानने की इच्छा वाले जिज्ञासु अग्रिम सोपानों का अध्ययन करें—सम्पादक ।

१. अनादि-कल्पिता, महा सङ्कल्प स्वरूपा, चिति शक्तिरूपा, अनिर्वचनीया, महामाया का प्रादुर्भाव होता है; जिसमें दो अंश प्रतीत होते हैं। उसके चेतनांश का नाम 'शबल-ब्रह्म' या 'महेश्वर' है। उसी (महामाया) के ज़डांश को 'मूल-प्रकृति' या 'महाशक्ति' कहते हैं। इस समय को महाप्रलय कहते हैं।

सामान्य-सत्तात्मक, संसारात्यन्त प्रलय रूप, परमार्थ सत् पदार्थ सत् पदार्थ, दृग्वस्तु, एक-मेवाद्वितीय ब्रह्म में—

१. अनादि-कल्पित, महासङ्कल्प-स्वरूपा, सामान्य-विशेष-सर्व-स्वरूपा, सद-सद्विलक्षणा, चिदचिद्विलक्षणा, भिन्नाभिन्न-विलक्षणा, सर्व-लक्ष्य-लक्षण-विलक्षणा, चिच्छक्तिभूता, अनिर्वचनीयस्वरूपा, महामाया का प्रादुर्भाव होता है। उसके चेतनांश का नाम 'शबल-ब्रह्म' या 'महेश्वर' है। उसी के को अव्यक्ताख्य, त्रिगुणात्मिका 'मूल प्रकृति' या 'महाशक्ति' कहते हैं।

महाशक्ति में भाव, अभाव, ऐसे दो पदार्थों की कल्पना होती है। अभाव के संसर्गाभाव और अन्योऽन्याभाव ऐसे दो भेद होते हैं। संसर्गाभाव के तीन भेद होते हैं—

१. (घटाद्युत्पत्ति पूर्व घटादि का) प्रागभाव,

२. (घटादिनाश-पश्चात् घटादि) प्रध्वंसाभाव, और

३. (घटादि के कारण में घटादि-कार्यरूपता का अभाव

रूप) अत्यंताभाव। अत्यंताभाव के दो भेद हैं—सामयिक और नित्य। (एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का अभाव रूप) अन्योऽन्याभाव के दो भेद हैं—सादि और अनादि; जिनमें से प्रत्येक के दो दो भेद होते हैं—सोपाधिक और निरुपाधिक।

भाव-पदार्थ में काल, दिशा और भेद की कल्पना होती है। काल के भूत, वर्तमान, भविष्यत्—ऐसे तीन भेद होते हैं; यद्यपि उस समय उनका पृथक्करण स्पष्ट रूप से नहीं होता है, तथापि उन तीनों के सम्मिलित-स्वरूप के दो भाग होते हैं—प्रलयकाल और प्रपञ्चकाल।

दिशा के दश भेद होते हैं यद्यपि ये उस समय स्पष्ट न होकर अव्यक्त रूप से रहती हैं—तथापि उनके ये नाम हैं—१. माहेन्द्री या प्राची (=पूर्व)। २. वैश्वानरी या आग्नेयी (=अग्निकोण)। ३. याम्या या अवाची (=दक्षिण)। ४. नैर्ऋती (=नैऋत्य कोण)। ५. वारुणी या प्रतीची (=पश्चिम)। ६. वायव्य या वायव्या (=वायुकोण)। ७. कौबेरी या उदीची (= उत्तर)। ८. माहेश्वरी या ऐशानी (=ईशान कोण)। ९. ब्राह्मी (ऊर्ध्व= ऊपर)। १० नागी (=अधः=नीचे)।

भेद के तीन प्रकार हैं—१. (किसी वस्तु की अपनी ही जाति की अन्य वस्तुओं से होने वाला पार्थक्य रूप) सजातीय-भेद। २. (किसी वस्तु की अपनी जाति से भिन्न जाति वाली वस्तुओं से होने वाला पार्थक्य रूप) विजातीय-भेद। और ३. किसी सावयव वस्तु के अवयव का उसी वस्तु के दूसरे अवयव या उस वस्तु रूप अवयवी से होने वाला पार्थक्य रूप) स्वगत-भेद।

इस महाप्रलय में महेश्वर और महाशक्ति की भिन्नता नहीं जान पड़ती । इसी महाप्रलय काल में महेश्वर में दो प्रकार की इच्छाशक्ति कल्पित होती है—

१. अध्यारोप रूप, प्रपंच की इच्छा और—

२. अपवाद रूप, प्रलय की इच्छा ।

यद्यपि इन भेदों का उस समय स्पष्टीकरण नहीं होता है, तथापि इनके अवान्तर भेद इस प्रकार हैं—

सजातीय भेद के—१. चेतनगत सजातीय भेद और २. अचेतनगत सजातीय भेद । चेतनगत सजातीय भेद भी द्विविध है—१. जीव-जीव-भेद और २. जीव-ईश्वर-भेद । अचेतन गत सजातीय भेद, एक प्रकार का ही होता है—१. जड़-जड़-भेद । विजातीय के भी उपर्युक्त दो ही भेद हैं—वे दोनों ही चेतना-चेतनगत भेद हैं—१ जीव-जड़-भेद और २. ईश्वर-जड़-भेद । स्वगत-भेद के भी तीन भेद है—१. अंगी का अंग से भेद, २. अग का अंगी से भेद और ३ एक अग का दूसरे अंग से भेद ।

ये सभी उपरिलिखित भेद उस समय व्यक्त न होकर अव्यक्त ही रहते हैं । यही महाप्रलय कहलाता है ।

इस महाप्रलय काल में महेश्वर में दो प्रकार की इच्छा-शक्ति कल्पित होती है— अध्यारोपात्मिका-प्रपञ्चेच्छा और अपवादात्मिका-प्रलयेच्छा ।

महेश्वर की प्रलयेच्छा से महाशक्ति के प्रलयकाल में महेश्वर-महाशक्ति का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध, संयोग रूप न होकर तादात्म्य रूप होता है; क्योंकि सर्वथा भिन्न दो पदार्थों में ही संयोग-सम्बन्ध होता है।

महाप्रलय में 'महेश्वर' की प्रपञ्चेच्छा से उसी (महेश्वर) में 'एकोऽहं बहु स्याम्'' अर्थात् '(अभी) मैं एक हूँ, (अब) मैं (ही) बहुत हो जाऊं' इस आकार वाली सर्जनेच्छा होती है, जिससे महाशक्ति का प्रपञ्चकाल होता है।

महेश्वर की प्रलयेच्छा से महाशक्ति के प्रलयकाल में महेश्वर-महाशक्ति का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध, संयोग रूप न होकर तादात्म्य रूप होता है; क्योंकि सर्वथा भिन्न दो पदार्थों में ही सयोग सबंध होता है।

महेश्वर-महाशक्ति का तादात्म्य-सम्बन्ध-रूप सम्मिलन ही महाप्रलय कहलाता है; शुद्ध - ब्रह्माऽधिष्ठित, शबल-ब्रह्म-नियन्त्रित, तदभिन्न - तत्तादात्म्यापन्न, त्रिगुणात्मिका-प्रकृति, अपने अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न नहीं जान पड़ती।

जब शबल-ब्रह्म-रूप महेश्वर की अध्यारोपात्मिका प्रपञ्चेच्छा होती है, तब उसमें "एकोऽहं बहु स्याम्" अर्थात् 'अभी) मैं एक हूं—(अब) मैं (ही) बहुत हो जाऊं'—इस आकार वाली

इस समय जीवों के अदृष्ट कर्मों में भोगदान रूप फलोन्मुखता होती है। इसी फलोन्मुखता से प्रकृति में कार्योन्मुखता रूप क्षोभ होता है। इसी क्षोभ से सभी कल्पित-प्रमेय-पदार्थों की सृष्टि का प्रारम्भ हो जाता है।

उपर्युक्त पदार्थों के दो भाग होते हैं १. प्रातिभासिक और २. व्यावहारिक। इस तरह त्रिगुणात्मिका

सर्जनेच्छा होती है, तब उससे महाशक्ति का प्रपञ्चकाल होता है। महेश्वर की सर्जनेच्छा रूप प्रेरणा से प्रपञ्चकाल में अपने समस्त भेदों से युक्त महाशक्ति- अनादि-सर्ग परम्परा-प्राप्त-जीवों के पूर्व-सर्ग-कालिक-अदृष्ट रूप कर्म के सुख-दुःख फल रूप भोग देने के लिए फलोन्मुख होती है। इस फलोन्मुखता से शुद्ध-ब्रह्माधिष्ठित, शवल-ब्रह्म-नियन्त्रित, तदभिन्न, तत्तादात्म्यापन्न, प्रधानाख्य, त्रिगुणात्मिका प्रकृति में कार्योन्मुखता रूप क्षोभ होता है, जिससे चेतनाधिष्ठित, अज्ञानमूलक, अ-परमार्थसत्, संसाराख्य दृश्य वस्तु रूप समस्त-लौकिकालौकिक-प्रमाण-प्रमेयादि रूप कल्पित-प्रमेय-पदार्थों की सृष्टि का प्रारम्भ हो जाता है।

इन कल्पित-प्रमेय-पदार्थों के दो भाग होते हैं; जिनमें से पहला है—१. चेतनाधिष्ठित प्रातिभासिक सत् या प्रातिभासिक-प्रमेय-पदार्थ; जोकि अज्ञान-वृत्ति और शुक्ति-रजत, साक्षि-स्वप्न, आदि के तुल्य होता है। (देखिये १६वीं सृष्टि)

प्रकृति का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव होता है । यही पहली सृष्टि है । (१) इस अवस्था को ब्राह्मप्रलय भी कहते हैं । (प्रकृति ही प्रथमावरण है यह महत्तत्व से दस गुनी है) ।

२. फिर महेश्वरेच्छा से प्रकृति में सत्त्व, रजः, और तमः, ऐसे नाम वाले तीन गुणों की सृष्टि हुई; जो कि क्रमशः प्रकाश, (ज्ञान) प्रवृत्ति (क्रिया) और प्रमाद (जड़ता मोह) रूप होते हैं । यही दूसरी सृष्टि है । इस समय ये गुण एकत्र और अभिन्न होते हैं ।।२।।

३. तदनन्तर उपर्युक्त चेतनाधिष्ठित-गुणत्रय से

---

१. चेतनाधिष्ठित व्यावहारिक सत या भाव-रूप व्यावहारिक प्रमेय पदार्थो में उपर्युक्त प्रधान-पद-वाच्य, अव्यक्ताख्य, त्रिगुणात्मिका-प्रकृति का सर्व-प्रथम प्रादुर्भाव होता है । यही पहली सृष्टि है । इसी अवस्था को ब्राह्मप्रलय भी कहते हैं । कई इसी को महाप्रलय भी कहते हैं । [ब्राह्मप्रलय=ब्रह्मा का अभाव]

२. तदनन्तर महेश्वरेच्छा से जीवों के कर्मफलोपभोगार्थ इस उपर्युक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति से सत्त्व, रजः और तमः, ऐसे नाम वाले तीन गुणों की सृष्टि हुई; जो कि क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और प्रमाद रूप होते हैं । यही दूसरी सृष्टि है ।।२।।

३. इस चेतनाधिष्ठित-गुणत्रय से द्रव्य तथा द्रव्याश्रित-

द्रव्य तथा द्रव्याश्रित धर्म पैदा होते हैं। इन दोनों के सम्मिलित रूप से त्रिगुण के तीन भेद हो जाते हैं; जिनमें प्रत्येक चेतनाधिष्ठित होता है। वे हैं--१. सत्त्वगुण, २. रजोगुण, ३. तमोगुण।

इन तीनों गुणों के भेद से प्रकृति भी क्रमशः सत्त्व-प्रधाना, रजः प्रधाना, तथा तमःप्रधाना हो जाती है। इनमें (चेतनांश एवं जडांश की दृष्टि से) प्रत्येक के दो दो भेद होते हैं।

धर्म पैदा होते हैं। इनमें द्रव्य के आंतर और बाह्य ऐसे दो भेद होते हैं। द्रव्याश्रित-धर्म के चार भेद होते हैं—१. सादृश्य २. कर्म, ३. शक्ति और ४. गुण। [इनका निरूपण १५वीं सृष्टि में देखिये]। इस समय इनका स्पष्टीकरण नहीं होता; अपितु आन्तरद्रव्य, बाह्य-द्रव्य और द्रव्याश्रित-धर्मों के सम्मिलित रूप त्रिगुण के तीन भेद हो जाते हैं; जिनमें प्रत्येक चेतनाधिष्ठित होता है। वे हैं– १. सत्त्व गुण, २. रजोगुण और ३. तमोगुण।

इन तीनों गुणों के भेद से प्रकृति भी क्रमशः सत्त्वप्रधाना, रजः प्रधाना तथा तमः प्रधाना हो जाती है।

इन तीनों में से प्रत्येक के चेतनांश और जडांश—ऐसे दो दो भेद होते हैं। चेतनांशों के नाम क्रमशः १ [महालक्ष्मी-समन्वित] महाविष्णु, २.[महासरस्वती-समन्वित] ब्रह्मा एवं, ३.[महाकाली-समन्वित] महारुद्र हैं।

इनके चेतनांशों के नाम क्रमशः १. महाविष्णु, २. ब्रह्मा और ३. महा रुद्र हैं।

सत्त्व प्रधाना-प्रकृति के जडांश के दो भेद होते हैं—१. शुद्ध सत्त्व प्रधाना माया और २. मलिन सत्त्व-प्रधाना अविद्या। इनमें से—

१. माया तो—एक, व्यापक और सर्वशक्तिमती है-किन्तु २. अविद्या—अनेक, एकदेशीय और अल्पशक्ति-मती होती है।

रजः प्रधाना और तमः प्रधाना प्रकृतियों के जडांशों

सत्त्वप्रधाना-प्रकृति के जडांश के दो भेद होते हैं—जिनमें पहली है—१. शुद्ध-सत्त्व-प्रधाना और दूसरी है—२. मलिन-सत्त्व-प्रधाना; जिन्हें क्रमशः माया और अविद्या भी कहते हैं। इनमें से माया तो एक और सर्व-विद्या-स्वरूपिणी, आवरण-विक्षेपादि-सर्व-शक्तिस्वरूपा, तथा व्यापक एवं अनिर्वचनीया होती है; तथा अविद्या अनेक, अविद्यमाना आवरण और विक्षे-पशक्तिमात्रस्वरूपा, परिच्छिन्ना, एव अनिर्वचनीया होती है।

रजःप्रधाना और तमः प्रधाना प्रकृतियों के जडांशों के सम्मेलन से महारुद्राधिष्ठित-तमःप्रधान-प्रकृति प्रादुर्भूत होती

के सम्मेलन से महारुद्राधिष्ठित तमः प्रधान प्रकृति प्रादुर्भूत होती है, जो समस्त-भूत-भौतिक, स्थावर-जङ्गम, पदार्थों की उपादान स्वरूपा है। यही तीसरी सृष्टि है ।।३।।

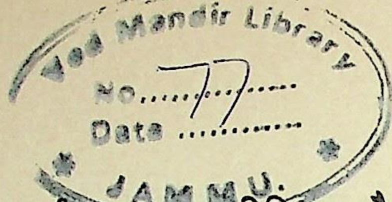
४. अब माया और अविद्या के सम्मेलन में उपर्युक्त तीनों चेतनांशों के आभास से चिदाभास का प्रादुर्भाव होता है, जो क्रमशः माया और अविद्या रूप उपाधि से (क्रमशः) ईश्वर और जीव कहलाता है। ईश्वर और जीव में अपनी अपनी उपाधियों के भेद से विरोध और पार्थक्य प्रतीत होता है।—जैसे कि—

१. ईश्वर तो सर्वज्ञ, सर्व व्यापक और सर्वशक्तिमान् होता है; पर।

है, जो समस्त भूत-भौतिक, स्थावर-जङ्गम पदार्थों की उपादान स्वरूपा है। यही तीसरी सृष्टि है ।।३।।

४. अब माया और अविद्या के सम्मेलन में उपर्युक्त तीनों चेतनांशों के आभास से चिदाभास का प्रादुर्भाव होता है, जो क्रमशः माया और अविद्या रूप उपाधि से (क्रमशः) ईश्वर और जीव कहलाता है। ईश्वर और जीव में अपनी अपनी उपाधियों के भेद से विरोध और पार्थक्य प्रतीत होता है। – जैसे कि—

१. ईश्वर तो सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान होता है, पर २. जीव अल्पज्ञ, परिच्छिन्न और अल्पशक्तिमान् सा ही



२. जीव, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न और अल्पशक्तिमान् सा ही प्रतीत होता है।

इन में से १. ईश्वर तो अपनी उपाधिशक्ति माया का स्वामी होता हुआ, उसकी आवरण-विक्षेपादि-शक्तियों का भी स्वामी ही रहता है; पर

२. जीव अपने आप को अपनी उपाधि शक्ति-अविद्या के वश में और परिच्छिन्न ही जानता है। यद्यपि इस जीव में अविद्याधीनता, परिच्छिन्नता, अज्ञता आदि दोष बिल्कुल ही नहीं हैं, फिर भी जन्मान्तरीय-संस्कार वश यह अपने आप को शुद्ध सच्चिदानन्द

प्रतीत होता है।

इनमें से १. ईश्वर तो अपनी उपाधिशक्ति माया का स्वामी होता हुआ उसकी आवरण-विक्षेपादि शक्तियों का भी स्वामी ही रहता है; पर--

२. जीव अपने आपको अपनी उपाधिशक्ति-अविद्या के वश में और परिच्छिन्न ही जानता है। यद्यपि इस जीव में अविद्याधीनता, परिच्छिन्नता, अज्ञता आदि दोष बिल्कुल ही नहीं हैं--फिर भी जन्मान्तरीय-संस्कार वश यह अपने आप को शुद्ध

व्यापक परमात्मा नहीं जानता। ईश्वर को यह अज्ञान होता ही नहीं है। इस तरह जीवेश्वर प्रतीति रूप यह चौथी सृष्टि है ॥४॥

सच्चिदानन्द व्यापक परमात्मा नहीं जानता। ईश्वर को यह अज्ञान होता ही नहीं।

माया की आवरणशक्ति से जीवों को मूलाज्ञान (=यथार्थ-स्वरूप की अप्रतीति), एवं विक्षेपशक्ति से तूलाज्ञान (=ब्रह्मा-तिरिक्त सर्वजडपदार्थों का अज्ञान), तथा विपर्यय (=अन्य वस्तु का अन्य वस्तु में आरोप) भी होता है। ईश्वर में मूलाऽज्ञान और तूलाऽ ज्ञान नहीं है। व्यावहारिक-दशा के वास्तव में तो यह जीवात्मा बुद्धि के धर्मों को अपने आप में आरोपित करता हुआ अपने आप को अविद्यावश एव जन्मने मरने वाला अर्थात् पूर्वदेह-पश्चाद्देह-रूप-जन्म को ग्रहण करने वाला ही मानता है। अविद्या की आवरण शक्ति से स्वरूपाज्ञानवान् होकर एवं विक्षेप शक्ति से जगत् को सत्यरूप तथा अपना सत्य में ही जन्म मरण आदि मानता है।

ईश्वर सर्व काल सवदेश सर्व वस्तु विषयक ज्ञानवान् सर्व दा एवं सर्वथा ही रहता है, तथा उसे आत्मविस्मृति भी कभी नहीं होती; परन्तु जीव को मूलाऽज्ञानवशात् स्वरूप ज्ञान नहीं होता; और यह जीव तूलाऽज्ञान के कारण संसार की किसी भी वस्तु को सम्पूर्णता से सम्यक्तया नहीं जानता। योगी होने पर भी कुछ न कुछ देशविषयक या कालविषयक असर्व ज्ञता रह ही

५. कारण-सूक्ष्म-स्थूल-शरीर रूप उपाधि में अभिमान के कारण चैतन्य के तीन नाम होते हैं। उनमें से व्यष्टि-कारणोपाधि अविद्या के अभिमानी को प्राज्ञ कहते हैं। और इन सभी प्राज्ञों की उपाधि की समष्टि ही अविद्या की समष्टि माया रूप है। इस माया उपाधि वाले चैतन्य को अन्तर्यामी या विष्णु कहते हैं। अन्तर्यामी, प्राज्ञ और तमः प्रधान-प्रकृति के सम्बन्ध से चेतनाधिष्ठित महत्तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है।

व्यष्टि में—एक सूक्ष्म शरीर रूप उपाधि के अभि-

जाती है। इस तरह जीवेश्वर-प्रतीति रूप यह चौथी सृष्टि है।

५. कारण-सूक्ष्म-स्थूल शरीर रूप उपाधि में अभिमान के कारण चैतन्य के तीन नाम होते हैं उनमें से व्यष्टि-कारणोपाधि अविद्या के अभिमानी को प्राज्ञ कहते हैं। और इन सभी प्राज्ञों की उपाधि की समष्टि ही अविद्या की समष्टि मायारूप है। जिस अव्याकृत मायोपाध्यभिमानी चैतन्य को अन्तर्यामी या विष्णु कहते हैं। इस अंतर्यामी विष्णु और प्राज्ञ जीवों की तथा महारुद्राधिष्ठित-तमःप्रधान-प्रकृति के संबंध से चेतनाधिष्ठित महत्तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है।

व्यष्टि में—एक सूक्ष्म शरीर रूप उपाध्यभिमानी चैतन्य को तैजस कहते हैं। इन व्यष्टि सूक्ष्म शरीरों की समष्टि को

मानी चैतन्य को तैजस कहते हैं। इन व्यष्टि सूक्ष्म शरीरों की समष्टि को ही महत्तत्त्व कहते हैं; जिसके अभिमानी को सूत्रात्मा या ब्रह्मा कहते हैं। यह महत्तत्त्व की सृष्टि पांचवीं सृष्टि है। (महत्तत्त्व ही द्वितीयावरण है यह अहंकार से दस गुणा है इसी को अध्यात्म में चित्त और अधिदैव में वासुदेव कहते हैं।) ॥५॥

६. इस महत्तत्त्व से चैतन्याधिष्ठित अहं तत्त्व का का प्रादुर्भाव होता है। इसे अहंकार भी कहते हैं। व्यष्टि में एक स्थूल शरीर रूप उपाधि के अभिमानी चैतन्य को

ही महत्तत्त्व कहते हैं; जिसके अभिमानी को समष्टि में सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा कहते हैं। यह महत्तत्त्व की सृष्टि, पांचवीं सृष्टि है।

६. इस (महत्तत्त्व) से चैतन्याधिष्ठित अहं तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है; जिसे अहंकार भी कहते हैं। व्यष्टि में एक स्थूल शरीर रूप उपाध्यभिमानी चैतन्य को विश्व कहते हैं। इन व्यष्टि सूक्ष्म शरीरों की समष्टि को ही अहंतत्त्व कहते है।

यद्यपि अभी सूक्ष्म शरीरों का प्राकट्य और स्थूल शरीरों की उत्पत्ति नहीं हुई है; तथापि सूक्ष्म शरीर तो अव्यक्त सत्ता रूप में, एवं स्थूल शरीर, (मनो-) वासना रूप में, उस समय भी होते ही हैं। उपर्युक्त समष्टि सूक्ष्म शरीर रूप अहकार के

को विश्व कहते हैं। इन व्यष्टि स्थूल शरीरों की समष्टि ही अहं तत्त्व है। समष्टि स्थूल शरीर रूप अहं तत्त्व के अभिमानी चैतन्य को वैश्वानर या रुद्र कहते हैं। उपास्य संकर्षण यह अहंतत्त्वोत्पत्ति छठी सृष्टि है। यह अहंतत्त्व ही तृतीयावरण है जो आकाश से दस गुणा है ॥६॥

यहां तक आन्तर-सृष्टि है। अब बाह्य-सृष्टि कही जाती है—

७. इस चैतन्याधिष्ठित अहं तत्त्व से बाह्य सृष्टियां हुई हैं—जिन में से चैतन्याधिष्ठित आकाश सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। इसे शब्द तन्मात्रा या अपंचीकृत आकाश भी कहते हैं। यह सातवीं सृष्टि है। यह आकाश ही चतुर्थावरण है; और वायु से दस गुणा है।

अभिमानी चैतन्य को वैश्वानर या विराट् अथवा रुद्र भी कहते हैं। यह अहंकारोत्पत्ति छठी सृष्टि है ॥६॥

यहां तक आन्तर-सृष्टि है। अब बाह्यसृष्टि कही जाती है-

७. इस चैतन्याधिष्ठित अहंकार से प्रमाण-प्रमेयात्मक बाह्य सृष्टियां हुई हैं; जिनमें से चैतन्याधिष्ठित आकाश सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ। इस आकाश को शब्द तन्मात्रा या अपंचीकृत आकाश भी कहते हैं। यही सातवीं सृष्टि है।

इस आकाश के दो भेद हुए—१. अपंचीकृत-आकाश और २ पंचीकृत आकाश। उन में से पंचीकृत आकाश के भी दो भेद हुए—१. समष्टि पं. आ. और २. व्यष्टि पं. आ.

समष्टि पञ्चीकृत आकाश ही वर्तमान आकाश है, जिसमें अन्य महाभूतों के भी भाग सम्मिलित हैं। जैसे—वर्तमान आकाश में श्रुतिसिद्ध $\frac{1}{2}$ भाग तो आकाश का अपना ही भाग है जो कि अवकाशात्मक है, तथा $\frac{1}{8}$ भाग वायवीय है जो कि स्पन्दनात्मक है। इसी तरह $\frac{1}{8}$ भाग आग्नेय है, जो कि प्रकाश और उष्ण स्वभाव वाला

इस (आकाश) के दो विभाग मुख्य रूप से हुए—१. शुद्धाकाश और २. मिश्रिताकाश। शुद्धाकाश को ही अपञ्चीकृत आकाश भी कहते है, और मिश्रिताकाश को पञ्चीकृत आकाश।

उनमें से पञ्चीकृत आकाश के भी दो भेद हुए—

१. समष्टि पञ्चीकृत आकाश और २. व्यष्टि-पञ्चीकृत आकाश।

समष्टि पञ्चीकृत आकाश ही वर्तमान आकाश है; जिसमें अन्य महाभूतों के भी भाग सम्मिलित हैं। जैसे—वर्तमान आकाश में श्रुतिसिद्ध $\frac{1}{2}$, या कल्पित $\frac{21}{25}$ भाग, आकाश का अपना ही भाग है जो कि अवकाशात्मक है, तथा $\frac{1}{8}$ या $\frac{1}{25}$ भाग वायवीय है, जोकि स्पन्दनात्मक है। इसी तरह $\frac{1}{8}$ या $\frac{1}{25}$

है। ऐसे ही $\frac{1}{8}$ भाग जलीय है जो द्रवात्मक है। एवं घनीभूत काठिन्यात्मक पार्थिव भाग है जो कि पूर्ववत् $\frac{1}{8}$ भाग ही है। इसी तरह सभी महाभूतों के विषय में जानना चाहिए।

व्यष्टि पञ्चीकृत आकाश मनुष्यादि के स्थूल शरीरों में रह रहा है। यथा—

१. शोक या शिराकाश आकाश का स्वकीयांश है।

२. काम या कण्ठाकाश आकाशगत वायवीयांश है।

भाग आग्नेय हैं, जो प्रकाशोष्णतात्मक है। ऐसे ही $\frac{1}{8}$ या $\frac{1}{25}$ भाग जलीय हैं, जो द्रवात्मक है, एवं शेष घनीभूत काठिन्यात्मक पार्थिव भाग है जो कि पूर्ववत् $\frac{1}{8}$ या $\frac{1}{25}$ है। इसी तरह सभी महाभूतों के विषय में जानना चाहिए।

यह वर्तमान आकाश नील रूप प्रतीत होता है (यह नील रूप अग्न्यादि-तत्त्वत्रय का ही हो सकता है। जैसा शिवस्वरोदय शास्त्र का वर्णन है।)

इस तरह समष्टि पंचीकृत आकाश का विवरण पूरा हुआ।

अब व्यष्टि पञ्चीकृत आकाश का विचार करते हैं, जोकि अस्मदादि-स्थूल-देहस्थ है।

१. शोक या शिराकाश, आकाश का स्वकीयांश है।

२. काम या कण्ठाकाश, आकाशगत वायवीयांश है।

३. क्रोध या हृदयाकाश आकाशगत आग्नेयांश है।

४. मोह या उदराकाश ,, जलीयांश है।

५. भय या कट्याकाश ,, पार्थिवांश है।

ये उपर्युक्त वायु आदि महाभूतों के अंश पहले वायु आदि अपंचीकृत-महाभूतों के ही भाग थे, जो कि अब पंचीकृत होकर आकाश में मिलकर उसके ही अंश बन गये हैं। इस तरह पंचीकृत आकाश का व्याख्यान पूरा हुआ।

अपञ्चीकृत आकाश के भी व्यष्टि और समष्टि ऐसे दो भेद होते हैं—

३- क्रोध या हृदयाकाश, आकाशगत आग्नेयांश है।

४. मोह या उदराकाश, —,,— जलीयांश है।

५. भय या कट्याकाश, —,,— पार्थिवांश है।

ये उपर्युक्त वायु आदि महाभूतों के अंश, पहले वायु आदि अपंचीकृत-महाभूतों के ही भाग थे, जोकि अब पञ्चीकृत होकर आकाश में मिलकर उसके ही अंश बन गए हैं।

इस तरह मिश्रिताकाश रूप पञ्चीकृत आकाश का व्याख्यान पूरा हुआ।

शब्द-तन्मात्रा-रूप शुद्धाकाश या अपञ्चीकृत आकाश के भी दो भाग होते हैं—

उन में से व्यष्टि अपञ्चीकृत आकाश वह है, जो सूक्ष्म शरीर में रहता है। इसके भी गुणों के अनुसार तीन भेद हैं—१. सात्त्विकांश २. राजसांश और ३. तामसांश।

सात्त्विकांश के पृथक् अंश से श्रोत्र नामक ज्ञानेन्द्रिय होती है जिसका देवता दिशा और विषय है— शब्दज्ञान महाभूतों के सात्त्विकांशों के सम्मिलित अंश से अन्तःकरण होता है। इसका प्रथम अंश अन्तःकरण ही

---

१. व्यष्टि अपञ्चीकृत आकाश और समष्टि अपंचीकृत आकाश। उनमें से व्यष्टि अपंचीकृत आकाश उसे कहते हैं, जो अस्मदादि-सूक्ष्म-देहस्थ है। इसके गुणानुसार तीन भेद हुए—१. सात्त्विकांश, २ राजसांश, और ३. तामसांश।

इन तीनों के भी पृथक् और सम्मिलित ऐसे दो दो भेद होते हैं। उनमें से पृथक् अंश तो आकाश का अपना ही निजी अंश होता है, जो अलग ही रहता है, पर सम्मिलित अंश वह है जो अन्य महाभूतों के सजातीय सम्मिलित अंशों से मिलकर अन्तःकरण-पञ्चक या प्राणपञ्चक अथवा गोलक-पंचक के रूप से शरीरों में रहता है।

सात्त्विकांश के पृथक् अंश से—(कर्णगोलकस्थ) श्रोत्रेन्द्रिय होती है, जिसे कर्णेन्द्रिय या श्रवणेन्द्रिय भी कहते हैं। यह ज्ञा-

है (जो व्यष्टि अपंचीकृताकाश के सात्त्विकांश के सम्मिलित अंश से बना है) इसका देवता विष्णु(=ज्ञान) और विषय है—आद्यस्फुरण (अर्थात् सर्वप्रथम स्पन्दन)

राजसांश के पृथक् अंश से वाणी नामक कर्मेन्द्रिय होती है, जिसका देवता अग्नि है और कार्य है—शब्दोच्चारण ; राजसांश के सम्मिलित अंश से सर्वाङ्गवर्ती व्यानवायु उत्पन्न होता है, जो कि प्राणपञ्चक का आ-

---

नेन्द्रिय है। इसका देवता दिशा या अश्विनीकुमार है और विषय है-श्रवण या शब्द ज्ञान।

सात्त्विकांश के सम्मिलित अंश से अंतःकरण होता है; जो विशेषतया हृदय-देशवर्ती और सामान्यतया सर्व-शरीरव्यापी होता हैं। यह प्रथमस्फुरण, संस्कार तथा आशय रूप होता है। यह अन्तःकरण का प्रथम प्रतीयमान अंश है और अंतःकरण-चतुष्टय का आधार हैं। इसका देवता विष्णु है और विषय है—(आद्यस्फुरण) अर्थात् कुछ है, इस प्रकार का निर्विकल्पक ज्ञान।

राजसांश के पृथक् अंश से जिह्वाश्रित वागिन्द्रिय होती है, जिसे वाणी या वाणीन्द्रिय भी कहते हैं। यह कर्मेन्द्रिय है। इस का देवता अग्नि है और विषय (=कर्म) है—ध्वनि या वर्ण रूप शब्द का उच्चारण।

राजसांश के सम्मिलित अंश से सर्वाङ्गवर्ती व्यानवायु उत्पन्न होता है, जो कि प्राणपंचक का आकाशीय पांचवां भाग

काशीय पांचवां भाग है—इसका देवता सत्यज्योति वायु है और कार्य है देह की संधियों का संकोच औरविकास।

तामसांश के पृथक् अंश से शब्द नामक विषय होता है। और सम्मिलित अंश से कर्णमुखगोलकस्थ आकाश बनता है।

है। इसका देवता सत्यज्योति वायु है और कार्य है—

देह की संधियों का संकोच-विकासात्मक-व्यवस्थापन। मुक्तज्ञान. पृ. ३६८ देखिये-वायुपुराण.६७।१२३-१३०।

तामसांश के पृथक् अंश से शब्द नामक विषय उत्पन्न होता है जो ध्वनि और वर्ण के भेद से द्विविध है।

ध्वनि के भी शास्त्रीय पांच भेद हैं--१. तत, २. वितत, ३. घन, ४. सुषिर और ५. संघर्ष, जो क्रमशः मृदङ्ग, सितार, घंटा, शङ्ख, ठोकर आदि जन्य होते हैं।

एक दूसरी दृष्टि से भी ध्वनि के पांच भेद हैं यथा--मंद मध्यम, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम। १. मंदध्वनि—मच्छड़ आदि की, २. मध्यमध्वनि-भ्रमर आदि की, ३. तीव्रध्वनि—गर्दभ आदि की, ४. तीव्रतर ध्वनि-विद्युत् (बम) आदि की, जो हृदय दहलाने वाली और भयंकर होती है। ५. तीव्रतम-ध्वनि-वह है जिसके सुनने पर श्रवणशक्ति का ही नाश हो जाय।

इनमें से प्रथम तीन भेद (अर्थात् मन्द मध्यम और तीव्र-ध्वनियों) के सम्मेलन से निम्न सात स्वरों का प्रादुर्भाव होता

है यथा-षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम पंचम, धैवत, निषाद; जिन्हें आजकल संक्षिप्त रूप से क्रमशः स रे ग म प ध नि कहते हैं।

वर्णात्मक शब्द के २ प्रमुख भेद होते हैं–स्वर और व्यंजन।

स्वर के पांच भेद होते हैं १. अर्द्धमात्रा, २. ह्रस्व, ३. दीर्घ, ४. प्लुत और ५. प्लुतातिरेक।

दूसरे प्रकार से इनके चार भेद होते हैं--१. उदात्त, २. अनुदात्त, ३. स्वरित, और ४. प्रचय या एक श्रुति।

तीसरे प्रकार से तीन भेद होते हैं--१. ह्रस्व, २. शुद्ध दीर्घ और ३. मिश्रित दीर्घ। जिनमें से ह्रस्व तो पांच हैं, शुद्धदीर्घ चार और मिश्रित दीर्घ भी चार ही हैं। इस तरह कुल तेरह ही स्वर हैं।

व्यंजन के ६ भेद हुए--१. स्पर्श, २. अन्तःस्थ, ३. ऊष्म, ४. अनुस्वार, ५. अनुनासिक और ६. विसर्ग।

उनमें से—स्पर्श के पांच वर्ग होते हैं और प्रत्येक वर्ग में पांच पांच वर्ण होते हैं। इस तरह ये स्पर्श पच्चीस ही होते हैं।

अन्तःस्थ और ऊष्म चार चार ही होते हैं।

अनुस्वार और अनुनासिक एक एक ही होते हैं।

विसर्ग के दो रूप होते हैं--नित्य और नैमित्तिक। उनमें से नित्य तो विसर्ग ही कहलाता है, और नैमित्तिक जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय कहलाता है।

ध्वन्यात्मक एव वर्णात्मक शब्दों की और भी अनेकों विशेषताएं होती हैं, पर दर्शन शास्त्र में उनका उपयोग नहीं है।

इस तरह अपञ्चीकृत आकाश का व्याख्यान पूरा हो चुका।

यहां तक सातवीं सृष्टि का निरूपण हुआ है ।।७।।

८. अपञ्चीकृत आकाश के समष्टि भाग से वायु तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। यह चैतन्याधिष्ठित वायु तत्त्व आठवीं सृष्टि में होता है। इसे ही स्पर्श-तन्मात्रा और अपञ्चीकृत वायु भी कहते हैं। यह वायु पंचमावरण है और अग्नि से दस गुना है। इसके भी पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत ऐसे २ भेद हैं। इन में से पंचीकृत वायु के १.

तामसांश के सम्मिलित अंश से कर्ण-मुख-गोलकस्थ आकाश बनता है।

इस तरह व्यष्टि अपञ्चीकृत आकाश का निरूपण हुआ एवं अपञ्चीकृत आकाश का भी व्याख्यान कर दिया गया है।

यहां तक सातवीं सृष्टि का निरूपण हुआ है ।।७।।

८. शुद्धाकाश या अपञ्चीकृत आकाश के समष्टि भाग से ही वायु तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। यह चैतन्याधिष्ठित वायु तत्त्व आठवीं सृष्टि में उत्पन्न होता है। इसे स्पर्श तन्मात्रा या अपञ्चीकृत वायु भी कहते हैं।

इसके भी दो भेद हैं—१. शुद्ध वायु और २. मिश्रित वायु। शुद्धवायु को ही अपञ्चीकृत वायु भी कहते हैं और मिश्रित वायु

समष्टि और २. व्यष्टि —ऐसे दो भेद हुए।

उन में से समष्टि पंचीकृत वायु वही है; जिसका हम रात दिन अनुभव करते हैं। इस में अन्य महाभूतों के भी भाग सम्मिलित हैं। आकाश के समान यहां भी वायु का अपना निजी भाग $\frac{1}{2}$ है और अन्य महाभूतों के $\frac{1}{8}$—$\frac{1}{8}$ हैं।

व्यष्टि पंचीकृत वायु मनुष्यादि के स्थूल शरीरों में रह रहा है। यथा—

१. आकाशीयांश-प्रसारण=फैलना। २. वायवीय

को पञ्चीकृत वायु कहते हैं।

उनमें से पंचीकृत वायु के भी दो भेद हुए—१. समष्टि पंचीकृत वायु और २. व्यष्टि पंचीकृत वायु।

समष्टि पचीकृत वायु तो वही है जिसका हम रातदिन अनुभव करते हैं, जिसमें अन्य महाभूतों के भी भाग सम्मिलित हैं। आकाश के समान यहां भी अपना निजी भाग $\frac{1}{2}$ या $\frac{21}{25}$ और अन्य महाभूतों $\frac{1}{8}$–$\frac{1}{8}$ अथवा $\frac{1}{25}$–$\frac{1}{25}$ है। इस वर्तमानवायु में सूक्ष्म रूप से हरितवर्ण रहता है जैसा कि शिव स्वरोदय शास्त्र में कहा गया है। (किंतु यह अग्न्यादि-तत्त्वत्रय का ही हो सकता है।)

व्यष्टि पंचीकृत वायु वह है जो अस्मदादि-स्थूल देहस्थ है।

प्रधान अंश-धावन=दौड़ना। ३. आग्नेयांश-वलन= जलना। ४. जलीयांश-चलन=चलना। और पार्थिवांश है—आकुंचन=सिकुड़ना। ये ही वायुतत्त्व में रहने वाले पांच अंश हैं।

ये उपर्युक्त आकाश आदि महाभूतों के अंश पहले आकाश आदि अपंचीकृत महाभूतों के ही भाग थे, जो कि अब पंचीकृत होकर वायु में मिलकर उसके ही अंश बन गये हैं। इस तरह पंचीकृत वायु का व्याख्यान पूरा हुआ।

अपंचीकृत वायु के भी व्यष्टि और समष्टि—ऐसे दो भाग होते हैं—

उनमें से व्यष्टि अपंचीकृत वायु वह है, जो सूक्ष्म

उस वायु में पूर्वोक्त नियमानुसार आकाशीयांश प्रसारण, वायवीय प्रधानांश धावन, आग्नेयांश वलन या उत्क्रमण, जलीयांश चलन और पार्थिवांश आकुञ्चन हैं।

इस तरह मिश्रित वायु रूप पंचीकृत वायु का व्याख्यान पूरा हुआ।

शुद्धवायु या अपंचीकृत वायु के भी दो भेद हुए।

१. व्यष्टि अपंचीकृत वायु और २. समष्टि अपंचीकृत वायु।

उनमें से व्यष्टि अपंचीकृत वायु वह है, जो अस्मदादि-सूक्ष्म देहस्थ है। इसके भी पूर्ववत् गुणानुसार तीन भेद होते हैं—

शरीर में रहता है। इसके भी गुणों के अनुसार तीन भेद होते हैं—१. सात्त्विकांश २. राजसांश और ३. तामसांश।

सात्त्विकांश के पृथक् अंश से स्पर्शेन्द्रिय नामक ज्ञानेंद्रिय होती है, जिसका देवता वायु और विषय है—स्पर्श ज्ञान। सात्त्विकांश के सम्मिलित अंश से अन्तः-करण का द्वितीय अंश मन होता है; जिसका उपास्य अनिरुद्ध, देवता चन्द्रमा, और विषय है—संकल्प-विकल्प।

---

१. सात्त्विकांश २. राजसांश और ३. तामसांश।

इन तीनों में भी प्रत्येक के पूर्ववत्—पृथक् और सम्मिलित ऐसे दो दो भेद होते हैं।

उनमें से पृथक् अंश तो वायु के अपने ही निजी भाग हैं, पर सम्मिलित अंशों से अन्य महाभूतों के भी सजातीय अंशों के साथ मिलने वाले भाग बनते हैं।

इस सात्त्विकांश के पृथक् अंश से (त्वग्गोलकस्थ) स्पर्शेन्द्रिय बनती है, जिसे त्वगिन्द्रिय या त्वचा इन्द्रिय भी कहते हैं। यह ज्ञानेन्द्रिय हैं। इसका देवता वायु है और विषय है—स्पर्श ज्ञान।

सात्त्विकांश के सम्मिलित अंश से अन्तःकरण-पंचक का द्वितीय प्रतीयमान वायवीयांश मन होता है, जो संकल्प विकल्पा-त्मक होता है। यह मन विशेषतया हृदयदेशवर्ती और सामान्य-

राजसांश के पृथक् अंश से पाणि (=हस्त) नामक कर्मेन्द्रिय होती है, जिसका देवता इन्द्र (=बल) है और कार्य है—आदान-प्रदान (=पकड़ना और छोड़ना)। राजसांश के सम्मिलित अंश से नाभिदेशीय समान वायु

तया सर्वशरीरव्यापी है। इसका देवता चन्द्रमा है और विषय है—संकल्प-विकल्प। [=पूर्वप्रस्फुरित पदार्थ क्या है? कैसा है? ऐसा है या वैसा है · ऐसा मन्तव्य (विषय)]

राजसांश के पृथक् अंश से प्रायः हस्तगोलकस्थ पाणीन्द्रिय बनती है जिसे हस्तेन्द्रिय या करेन्द्रिय भी कहते हैं। यह कर्मेन्द्रिय है। इसका देवता इन्द्र या महेन्द्र है और कार्य है–आदान-प्रदान (=पकड़ना-छोड़ना)

राजसांश के सम्मिलित अंश से प्राणपंचक गत नाभिदेशीय, वायवीयांश समानवायु बनता है। इसका देवता सत्यमित्र वायु है और कार्य है– पाकाशय निर्मित रसरक्त का (प्रायः) बहत्तर हजार नाड़ियों में विभाजन करना। तामसांश के पृथक् अंश से स्पश विषय होता है। इसके १. उष्ण २. अनुष्णाशीत और ३. शीत – ऐसे तीन भेद होते हैं।

दूसरे प्रकार से स्पर्श के पांच भेद होते हैं। यथा–१. रोमादि जन्य मन्द स्पर्श।

२. रुई आदि जन्य मृदु स्पर्श (घृतादि जन्य स्निग्ध स्पर्श भी)
३. चिकने पत्थर आदि से पैदा होने वाला स्निग्ध कठिन स्पर्श
४. खुरदरे कठिन पदार्थ से पैदा होने वाला रूक्ष कठिन स्पर्श,

उत्पन्न होता है, जो कि प्राणपंचक का वायवीय पांचवां भाग है। इसका देवता सत्यमित्र वायु है और कार्य है—रसादि-विभाजन।

तामसांश के पृथक् अंश से स्पर्श नामक विषय होता है। और सम्मिलित अंश से त्वग्गोलकवर्ती स्पन्दन-शक्तियुक्त वायु बनता है।

इस तरह अपंचीकृत वायु का व्याख्यान पूरा हो चुका।

यहां तक आठवीं सृष्टि का निरूपण हुआ है ॥८॥

९. अपंचीकृत वायु के समष्टि भाग से अग्नितत्त्व

---

५. बर्फ, अङ्गार तथा शस्त्रच्छेदनादि से होने वाले असह्य स्पर्श इसी तरह और भी अनेकों भेद होते हैं जो कि दर्शन शास्त्र में अनुपयोगी होने से नहीं कहे गये हैं।

तामसांश के सम्मिलित अंश से त्वग्गोलक-वर्ती स्पन्दन-शक्ति युक्त वायु बनता है।

इस तरह व्यष्टि अपंचीकृत वायु का निरूपण हुआ, एवं अपंचीकृत वायु का भी व्याख्यान कर दिया गया है।

यहां तक आठवीं सृष्टि का निरूपण हुआ है ॥८॥

९. शुद्ध वायु या अपंचीकृत वायु के समष्टि भाग से चैतन्याधिष्ठित-तैजस तत्त्व उत्पन्न होता है, इसे ही अग्नि तत्त्व

का प्रादुर्भाव होता है। यह अग्नि षठावरण है यह जल से दसगुना है। अग्नितत्त्व को तेजस्तत्त्व भी कहते हैं। यह चैतन्याधिष्ठित अग्नितत्त्व नवीं सृष्टि में होता है, इसे ही रूप तन्मात्रा और अपंचीकृत अग्नि भी कहते हैं। इसके १. अपंचीकृत और २. पंचीकृत ऐसे दो भेद हैं। इन में से पंचीकृत अग्नि के १. समष्टि और २. व्यष्टि— ऐसे दो भेद हुए।

उनमें से समष्टि पंचीकृत अग्नि तो वही है जिसका हम चूल्हे, अंगीठी, भट्ठी, माचिस, दीपक आदि रूपों

भी कहते हैं। यह नवीं सृष्टि में उत्पन्न होता है। इसे ही रूप तन्मात्रा या अपंचीकृत अग्नि भी कहते हैं।

इसके दो भेद हैं—१. शुद्ध अग्नि और २. मिश्रित अग्नि। इन्हें क्रमशः १. अपचीकृत अग्नि और २. पञ्चीकृत अग्नि भी कहते हैं।

इनमें से पंचीकृत अग्नि के भी दो भेद हुए—

१. समष्टि पंचीकृत अग्नि और २. व्यष्टि पंचीकृत अग्नि।

समष्टि पंचीकृत अग्नि तो वही है—जिसका अनुभव हम सूर्य विद्युद अग्नि आदि रूपों में करते हैं। इसमें अन्य महाभूतों के भाग भी पूर्व प्रक्रियानुसार ही सम्मिलित हैं। इस वर्तमान

में रातदिन अनुभव करते हैं। इसमें अन्य महाभूतों के भी भाग सम्मिलित हैं जिन में अग्नि का अपना निजी भाग $\frac{1}{2}$ है और अन्य महाभूतों के $\frac{1}{8}$–$\frac{1}{8}$ हैं।

व्यष्टि पंचीकृत अग्नि मनुष्यादि के स्थूल शरीरों में रह रहा है। यथा—

१. आकाशीयांश–निद्रा=नींद। २. वायवीयांश–तृषा=प्यास। ३. प्रधान आग्नेयांश–क्षुधा=भूख। ४. जलीयांश–कान्ति=चमक। और ५. पार्थिवांश है—आलस्य=जमुहाई आदि। ये ही अग्नि तत्त्व में रहने वाले पांच अंश हैं।

अग्नि या तेजस् तत्त्व में आरक्त एव भास्वर शुक्लवर्ण प्रधान रूप से रहते हैं, तथा अन्य सभी रंगों का उपादान भी यही अग्नि तत्त्व है।

व्यष्टि पंचीकृत अग्नि वह है जो अस्मदादि स्थूल देहों में उष्णता एवं कान्ति के रूप में रहता है। इसमें पूर्ववत् आकाशीयांश निद्रा (=नींद), वायवीयांश तृषा (=प्यास), प्रधान आग्नेयांश क्षुधा (=भूख, जलीयांश कान्ति (=चमक) और पार्थिवांश आलस्य है।

इस तरह मिश्रित अग्नि रूप पंचीकृत अग्नि का व्याख्यान पूरा हुआ।

ये उपर्युक्त आकाश आदि महाभूतों के अंश पहले आकाश आदि अपंचीकृत महाभूतों के ही भाग थे, जो कि अब पंचीकृत होकर, अग्नि तत्त्व में मिलकर, उस के ही अंश बन गये हैं। इस तरह पंचीकृत अग्नि का व्याख्यान पूरा हुआ।

अपंचीकृत अग्नि के भी १. व्यष्टि और २. समष्टि ऐसे दो भाग हैं।

उन में से व्यष्टि अपंचीकृत अग्नि वह है जो सूक्ष्म शरीर में रहता हैं। इस के भी गुणों के अनुसार तीन भेद होते हैं—१. सात्त्विकांश २. राजसांश ३. तामसांश।

शुद्ध अग्नि या अपंचीकृत अग्नि के भी भेद होते हैं – १. व्यष्टि अपंचीकृत अग्नि और २. समष्टि अपंचीकृत अग्नि।

उनमें से व्यष्टि अपंचीकृत अग्नि वह है जो अस्मदादि-सूक्ष्म-देहस्थ है। इसके गुणानुसार तीन भेद होते हैं—१. सात्त्विकांश, २. राजसांश और ३. तामसांश पूर्ववत् प्रत्येक के पृथक् और सम्मिलित ऐसे दो दो भेद होते हैं।

उसमें से पृथक् अंश तो अग्नि के अपने ही निजी भाग हैं, पर सम्मिलित अंशों से अन्य महाभूतों के भी सजातीय अंशों के साथ मिलने वाले भाग हैं।

सात्त्विकांश के पृथक् अंश से चक्षु (=नेत्र) नामक ज्ञानेन्द्रिय होती है, जिसका देवता सूर्य (=प्रकाश) है, और विषय है—रूप ज्ञान। सात्त्विकांश के सम्मिलित अंश से अन्तःकरण का तृतीय अंश बुद्धि होती है जिसका देवता—ब्रह्मा है, और विषय है—निश्चय करना। उपास्य प्रद्युम्न।

इस सात्त्विकांश के पृथक् अंश से-(नेत्र-गोलक-वर्ती) चक्षुइन्द्रिय बनती है, जिसे नेत्र और अक्षि भी कहते हैं। यह ज्ञानेन्द्रिय है। इसका देवता सूर्य (=प्रकाश) है और विषय है रूप (और आकार) का ज्ञान।

सात्त्विकांश के सम्मिलित अंश से अन्तःकरण के तृतीय प्रतीयमान आग्नेयांश बुद्धि की उत्पत्ति होती है, जो निश्चयात्मिका होती है। यह बुद्धि, विशेषतया हृदय-देश-वर्तिनी तथा सामान्यतया सर्वशरीर-व्यापिनी होती है। इसका देवता—समष्टि बुद्धि रूप ब्रह्मा है और विषय है-अध्यवसाय रूप निश्चय। (अर्थात् मन द्वारा विकल्पित सदिग्ध पदार्थ को निश्चित कर देना।) इसके धर्म अधर्म और कर्म ऐसे तीन गुण भी होते हैं, जो पंद्रहवीं सृष्टि में लिखे गये हैं। उसे वहीं पर देखना चाहिये।

राजसांश के पृथक् अंश से पाद (=पैर) नामक कर्मेन्द्रिय होती है, जिसका देवता उपेन्द्र है और कार्य है—गमनागमन (=आना जाना)। राजसांश के सम्मिलित अंश से कण्ठवर्ती उदानवायु उत्पन्न होता है जो कि प्राणपञ्चक का वायवीय पांचवां भाग है। इस का देवता साक्षिप वायु है, और कार्य है—अग्नि-जल का विभाजन। हिचकी, डकार, स्वप्न आदि भी इस के कार्य माने जाते हैं।

तामसांश के पृथक् अंश से रूप नामक विषय होता है और सम्मिलित अंश से अक्षि-गोलकादि में रहने वाली उष्णता और कान्ति की उत्पत्ति होती है।

राजसांश के पृथक् अंश से प्रायः पादगोलक में रहने वाली पाद इन्द्रिय बनती हैं जिसे पैर, चरण या पद भी कहते हैं। यह कर्मेन्द्रिय है। इसका देवता वामन या उपेन्द्र है और कार्य है—गमनागमन (=आना-जाना)।

राजसांश के सम्मिलित अंश से प्राणपंचकगत कण्ठ-प्रदेश-वर्ती उदानवायु बनता है। इसका देवता साक्षिप वायु है और कार्य हैं—प्रायः मुख द्वारा खाये पीये अन्न-जल का विभाजन करना तथा हिचकी, डकार कराना और स्वप्न दिखाना।

तामसांश के पृथक् अंश से रूप विषय बनता है। यह रूप विषय प्रमुख सात रंगों या भेदों वाला होता है - जैसे—

१. पारदर्शी और अपारदर्शी शुक्ल वर्ण=सफेद रंग।
२. —,,—कृष्ण वर्ण=काला, नीला, आसमानी आदि
३. —,,—रक्त वर्ण=लाल, गुलाबी, नारंगी जोगिया
४. —,,—पीत वर्ण=पीला, केसरिया आदि।
५. पारदर्शी और अपारदर्शी कपिश वर्ण=बैंगनी, धूमिल, मटमैला, खाकी।
६. —,,—हरित वर्ण=हल्का हरा और गाढ़ा हरा।
७. —,,—चित्र वर्ण=चितकबरा, रंग-विरंग, धूपछांह।

इनमें से प्रत्येक के पांच-पांच भेद होते हैं जैसे—

१. मंद रूप-यथा-जुगनू, चिनगारी, तारे आदि का प्रकाश।
२. मध्यम रूप यथा—दीप, अग्नि, चन्द्रमा—,,—।
३. तीव्र रूप यथा—प्रदीप्त गैस, अग्नि की भट्ठी, या बाल-सूर्यादि का प्रकाश।
४. तीव्रतर रूप यथा—आंखों में चकाचौंध कर देने वाला देदीप्यमान विद्युत्- प्रकाश या ग्रीष्मकालिक मध्याह्न के सूर्य का प्रकाश।
५. तीव्रतम रूप-यथा—ज्योतिः शक्तिनाशक-साक्षात् सूर्यादि।

उपर्युक्त रूप के—मोटा-पतला, ऊंचा-नीचा, छोटा-बड़ा, लम्बा-चौड़ा, वर्ग-घन, गोल-टेड़ा, त्रिकोण-पचकोण, समकोण-विषमकोण, समभुज-विषमभुज, सूक्ष्म-स्थूल आदि अनेकों प्रकार

इस तरह अपञ्चीकृत अग्नि का व्याख्यान पूरा हो चुका।

यहां तक नवीं सृष्टि का निरूपण हुआ है ॥९॥

१०. अपंचीकृत अग्नि के समष्टि भाग से जलतत्त्व का प्रादुर्भाव होता है, जिसे अप् तत्त्व भी कहते हैं। यह जलतत्त्व सप्तमावरण है—पृथ्वी से दस गुणा है। यह चैतन्याधिष्ठित जलतत्त्व दसवीं सृष्टि में होता है।

के आकार भी–भेद ही हैं वे जानने योग्य हैं, किंतु दर्शन शास्त्र में अनुपयोगी होने से उनका वर्णन नहीं किया गया है।

तामसांश के सम्मिलित अंश से सामान्यतया समस्त शरीर में, एवं विशेषतया अक्षिगोलक में रहने वाली उष्णता और कांति रूप प्रकाश युक्त अग्नि-विशेष की उत्पत्ति होती है।

इस तरह व्यष्टि अपंचीकृत अग्निका निरूपण हुआ, एवं अपंचीकृत अग्नि का भी व्याख्यान कर दिया गया है।

यहां तक नवीं सृष्टि का निरूपण किया गया है ॥९॥

१०. शुद्ध अग्नि या अपंचीकृत अग्नि के समष्टि भाग से चैतन्याधिष्ठित अप्-तत्त्व रूप जल पैदा होता है। यह दसवीं सृष्टि का पदार्थ है। इसे ही रस-तन्मात्रा या अपंचीकृत जल भी कहते हैं।

इस जल तत्त्व के दो भेद हैं--१. शुद्ध जल और २. मिश्रित

इसे ही रस-तन्मात्रा और अपंचीकृत जल भी कहते हैं। इसके १. अपंचीकृत और २. पंचीकृत ऐसे दो भेद हैं।

इन में से पंचीकृत जल के १. समष्टि और २. व्यष्टि—ऐसे दो भेद हैं।

उन में से समष्टि पंचीकृत जल तो वही है जिसे हम प्रति दिन देखते या पीते हैं। इस में अन्य महा-भूतों के भी भाग सम्मिलित हैं, जिन में जल का अपना निजी भाग $\frac{1}{2}$ है और अन्य महाभूतों के $\frac{1}{8}$—$\frac{1}{8}$ हैं।

जल, जिन्हें ही क्रमशः १ अपंचीकृत जलतत्त्व और २. पंचीकृत जलतत्त्व भी कहते हैं।

उनमें से पंचीकृत जल के भी दो भेद होते हैं--

१. समष्टि पंचीकृत जल और २. व्यष्टि पचीकृत जल।

समष्टि पंचीकृत जल तो वही है जिसे हम बादल, वाष्पकण, जलबिन्दु, धारा, प्रवाह, निर्झर, सरित्, सरोवर, सागर आदि के रूप में देखते और जानते हैं । इसमें पूर्व-प्रक्रियानुसार ही अन्य भूतों के भाग भी सम्मिलित हैं। यह वर्तमान जल तत्त्व श्वेत या शुक्लवर्ण, पारदर्शी, शीतस्पर्श, मधुरस्वाद (प्रायः निर्गंध) तथा द्रव रूप होता है।

व्यष्टि पंचीकृत जल वह है जो अस्मदादि स्थूलदेह में शैत्य, द्रवता और मृदुता के रूप में रहता है, जिसमें पूर्ववत् आकाशी-

व्यष्टि पंचीकृत जल मनुष्यादि के स्थूल शरीरों में रह रहा है। यथा—

१. आकाशीयांश—लार। २. वायवीयांश—स्वेद=पसीना। ३. आग्नेयांश—मूत्र। ४. प्रधान-जलीयांश—रज या वीर्य। और ५. पार्थिवांश—रक्त=खून है। ये ही जलतत्त्व में रहने वाले पांच अंश हैं।

ये उपर्युक्त आकाश आदि महाभूतों के अंश पहले आकाश आदि अपंचीकृत महाभूतों के ही भाग थे, जो कि अब पंचीकृत होकर, जल तत्त्व में मिलकर, उसके ही अंश बन गये हैं। इस तरह पंचीकृत जल का व्याख्यान पूरा हुआ।

अपंचीकृत जल के भी १. व्यष्टि और २. समष्टि ऐसे दो भेद हैं।

यांश-लार, वायवीयांश-स्वेद (=पसीना), आग्नेयांश-मूत्र, प्रधान-जलीयांश-रज या वीर्य, और पार्थिवांश रक्त या रुधिर (=खून) रहता है।

इस तरह मिश्रित जल रूप पंचीकृत जल का व्याख्यान पूरा हुआ।

शुद्ध जल या अपंचीकृत जल के भी दो भाग होते हैं—

उन में से व्यष्टि अपंचीकृत जल वह है, जो सूक्ष्म शरीर में रहता है। इसके भी गुणों के अनुसार तीन भेद होते हैं—१. सात्त्विकांश, २. राजसांश, और ३. तामसांश।

सात्त्विकांश के पृथक् अंश से रसना नामक ज्ञानेन्द्रिय होती है, जिस का देवता वरुण (=जल=रस) है और

---

१. व्यष्टि अपंचीकृत जल और २. समष्टि अपंचीकृत जल।

उनमें से व्यष्टि अपंचीकृतजल, अस्मदादि-सूक्ष्म देह में में रहता है, इसके गुणानुसार, तीन भेद होते हैं—

१. सात्त्विकांश, २. राजसांश और ३. तामसांश।

पूर्ववत् प्रत्येक के पृथक् और सम्मिलित ऐसे दो दो भेद होते हैं।

उनमें से पृथक् अंश तो जलके अपने ही निजी भाग हैं, पर सम्मिलित अंशों से अन्य महाभूतों के भी सजातीय अंशों के साथ मिलने वाले भाग बनते हैं।

इस सात्त्विकांश के पृथक् अंश से (जिह्वा गोलकवर्ती) रसना इन्द्रिय बनती है, जिसे जिह्वाइन्द्रिय भी कहते हैं। यह ज्ञानेन्द्रिय है। इसका देवता जलाभिमानी वरुण है और विषय है - रस ज्ञान अर्थात् स्वाद-ज्ञान।

सात्त्विकांश के सम्मिलित अंश से अंतःकरण-पंचक का

विषय है—रस-ज्ञान। सात्विकांश के सम्मिलित अंश से अन्तःकरण का चतुर्थ अंश चित्त होता है, जिसका देवता नारायण है और विषय है—चिंतन।

राजसांश के पृथक् अंश से उपस्थ नाम कर्मेन्द्रिय होती है, जिसका देवता प्रजापति=काम है और कार्य है—रस त्याग (=रज या वीर्य तथा मूत्र बाहर करना)। राजसांश के सम्मिलित अंश से हृदयदेशीय मुख्य प्राण बनता है, जो कि प्राणपञ्चक का जलीय पाचवां भाग

चतुर्थ प्रतीयमान जलीयांश चित्त उत्पन्न होता है। जो चिन्तनात्मक होता है। यह चित्त विशेषतया हृदयदेशवर्ती तथा सामान्यतया सर्वशरीर व्यापी होता है। इसका देवता नारायण (धर्मपुत्र-नारायण), और विषय है—चिन्तन (अर्थात् बुद्धि द्वारा निश्चित वस्तु का पुनः पुनः चिन्तन रूप अभ्यास)।

राजसांश के पृथक् अंश से प्रायः शिश्न या योनि रूप गोलक में रहने वाली उपस्थेन्द्रिय बनती है। यह कर्मेन्द्रिय है। इसका देवता काम या प्रजापति है, और कार्य है—रस त्याग एवं भोगजन्य आनन्द देना (अर्थात् मैथुनक्रिया में सहकारी होना)।

राजसांश के सम्मिलित अंश से प्राणपंचकगत हृदयदेशवर्ती मुख्य प्राण बनता है। इसका देवता समितावायु है और कार्य है—दिन रात्रि के २४ घण्टों में स्वस्थ होने पर इकीस हजार

हैं। इसका देवता समिता वायु है और कार्य है—दिन रात्रि के चौबीस घण्टों में स्वस्थ होने पर इक्कीस हज़ार छै सौ बार श्वास लेना और छोड़ना।

तामसांश के पृथक् अंश से रस नामक विषय होता है। और सम्मिलित अंश से रसना और उपस्थ गोलकों में रस विशेषों की उत्पत्ति होती है।

छै सौ बार श्वासोच्छ्वास लेना। अर्थात् एक मिनट में प्रायः पन्द्रह बार।

तामसांश के पृथक् अंश से रस विषय की उत्पत्ति होती है जो छै प्रकार का होता है—यथा—१. मधुर २. अम्ल, ३. कटु ४. कषाय, ५ तिक्त और ६. क्षार।

इनमें से प्रत्येक के निम्न पांच-पांच भेद होते हैं—यथा—

१. मन्द रस –जल आदि का, २. मध्यम रस–जलमिश्रित इक्षुरसादिका ३. तीव्ररस—मिश्रीआदिका, ४. तीव्रतररस—रसनेन्द्रिय को व्याकुल करने वाला क्षार विषादि का ५. तीव्र-तम रस–प्राणहारक महाविषादि का।

इनके और भी सूक्ष्म भेदों का यहां वर्णन नहीं किया गया है–क्योंकि दर्शन शास्त्र में उनका उपयोग नहीं है।

तामसांश के सम्मिलित अंश से सामान्यतया सर्वशरीरस्थ एवं विशेषतया रसना और उपस्थ गोलकों में रहने वाले आर्द्र-रस-विशेष की उत्पत्ति होती है।

इस तरह अपंचीकृत जल का व्याख्यान पूरा हो चुका ।

यहां तक दसवीं सृष्टि का निरूपण हुआ है ॥१०॥

११. अपंचीकृत जल के समष्टि भाग से पृथ्वी तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है । यह चैतन्याधिष्ठित पृथ्वी तत्त्व ग्यारहवीं सृष्टि में होता है, इसे ही गन्धतन्मात्रा और अपञ्चीकृत पृथ्वी भी कहते हैं । इसके १. अपंचीकृत और २. पंचीकृत ऐसे दो भेद हैं । इन में से पंचीकृत

इस तरह व्यष्टि अपंचीकृत जल तत्त्व का निरूपण हुआ, एवं अपंचीकृत जल का भी व्याख्यान कर दिया गया है ।

यहां तक दसवीं सृष्टि का निरूपण किया गया ह ॥१०॥

११. शुद्ध जल या अपंचीकृत जलके समष्टि भाग से चैतन्याधिष्ठित पृथ्वी तत्त्व की उत्पत्ति होती है, जिसे भू, भूमि, भूतल, पृथ्वी, पृथिवी, रसा, वसुंधरा, धरा आदि कहते हैं। यह ग्यारहवीं सृष्टि का पदार्थ है । इसे ही गन्ध-तन्मात्रा या अपंचीकृत पृथ्वी भी कहते हैं ।

इस पृथ्वी तत्त्व के दो भेद हैं, १. शुद्ध पृथिवी और २. मिश्रित पृथिवी । इन्हें क्रमशः १. अपंचीकृत पृथ्वी और २. पंचीकृत पृथ्वी भी कहते हैं ।

पृथ्वी के १. समष्टि और २. व्यष्टि—ऐसे दो भेद हुए।

उन में से समष्टि पंचीकृत पृथ्वी तो वही है जिसे हम घर; खेत, बाग, बगीचे, पर्वत, मैदान आदि रूपों में जानते हैं। इस में अन्य महाभूतों के भी भाग सम्मिलित हैं जिन में पृथ्वी का अपना निजी भाग $\frac{1}{2}$ है और दूसरों के $\frac{1}{8}$—$\frac{1}{8}$ हैं।

व्यष्टि पंचीकृत पृथ्वी तत्त्व मनुष्यादि के स्थूल शरीरों में रह रहा है। यथा—

उनमें से पंचीकृत पृथ्वी के भी दो भेद हुए—

१. समष्टि पंचीकृत पृथ्वी और व्यष्टि पंचीकृत पृथ्वी।

समष्टि पंचीकृत पृथ्वी तो वही है जो अस्मदादि-स्थूल शरीरों का आश्रय रूप तथा - धूलि. रेत, पत्थर, पर्वत, मिट्टी खेत, मैदान, पृथ्वी, ग्रह, तारे, नक्षत्रादि सौर-मण्डलादि ठोस रूप में प्राय: दृष्टि गोचर होती है। इसमें पूर्वप्रक्रियानुसार ही अन्य महाभूतों के भाग भी सम्मिलित हैं, यह वर्तमान पृथ्वी, प्राय: पीतवर्ण, एवं कठोर तथा प्राय: अपारदर्शी होती है।

व्यष्टि पंचीकृत पृथ्वी वही है जो अस्मदादि स्थूल देह में अस्थि आदि काठिन्य के रूप में है। इसमें पूर्ववत् १ आकाशीयांश रोम-बाल-केश २ वायवीयांश-त्वचा = चमड़ी ३ आग्नेयांश-नाड़ी

१. आकाशीयांश—रोम (=बाल, केश)। २. वायवीयांश-त्वचा (=चमड़ी) ३. आग्नेयांश—नस-नाड़ी। ४. जलीयांश-मांस। और ५. प्रधान पार्थिवांश—हड्डी (=दांत, नख) हैं। बहत्तर हज़ार नाड़ियों में १. चन्द्रनाड़ी-इड़ा, २. सूर्यनाड़ी - पिङ्गला, और ३. ब्रह्मनाड़ी-सुषुम्ना प्रधान हैं। ये ही पृथ्वी तत्त्व में रहने वाले पांच अंश हैं।

ये उपर्युक्त आकाश आदि महाभूतों के अंश पहले आकाश आदि अपंचीकृत महाभूतों के ही भाग थे, जो कि अब पंचीकृत होकर पृथ्वी तत्त्व में मिलकर उसके ही

और नसें, ४. जलीयांश-मांस, एवं ५. प्रधान-पार्थिवांश—हड्डी, दांत और नख हैं।

शिवस्वरोदय शास्त्र (=स्वर-ज्ञान - प्रक्रिया) के अनुसार बहत्तर हजार नाड़ियां हैं जिनमें से अठारह मुख्य हैं उनमें से भी दश प्रधान हैं, उनमें से भी तीन नाड़ियां जिनका; कि आध्यात्मिक-शास्त्रों में भी उपयोग है—इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नामवाली हैं। इन्हीं को क्रमशः चन्द्रनाड़ी, सूर्यनाड़ी और ब्रह्मनाड़ी भी कहते है। इनमें क्रमशः बाम, दक्षिण और मध्यस्वर चलता है। इसके अतिरिक्त गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहूः, शङ्खिनी; आदि नाड़ियां भी हैं।

अंश बन गये हैं। इस तरह पंचीकृत पृथ्वी का व्याख्यान पूरा हुआ।

अपंचीकृत पृथ्वी के भी व्यष्टि और समष्टि—ऐसे दो भाग होते हैं—

व्यष्टि अपंचीकृत पृथ्वी तत्त्व वह है, जो सूक्ष्म शरीर में रहता है। इसके भी गुणों के अनुसार तीन भेद होते हैं—१. सात्त्विकांश २. राजसांश और ३. तामसांश।

सात्त्विकांश के पृथक् अंश से घ्राण (=नासिका)

इस तरह मिश्रित पृथ्वी रूप पंचीकृत पृथ्वी का व्याख्यान पूरा हुआ।

शुद्ध पृथ्वी या अपंचीकृत पृथ्वी, महाभूतों की अंतिम सृष्टि है। इसके भी–१. व्यष्टि और २. समष्टि–ऐसे दो भेद होते हैं।

व्यष्टि अपंचीकृत पृथ्वी वह है जो अस्मदादि सूक्ष्म देह गत पार्थिवांश के रूप में है। इसके त्रिगुणानुसार तीन भेद होते हैं—१. सात्त्विकांश, २. राजसांश और ३. तामसांश। पूर्ववत् प्रत्येक के दो दो भेद होते हैं।

उनमें से पृथक् अंश तो पृथ्वी के अपने ही निजी भाग है, पर सम्मिलित अंशों से अन्य महाभूतों के सजातीय अंशों के साथ मिलने वाले भाग बनते हैं।

इस सात्त्विकांश के पृथक् अंश से (नासिका गोलकवर्ती)

नामक ज्ञानेंद्रिय होती है, जिसका देवता पृथ्वी, और विषय है—गन्ध-ज्ञान। सात्त्विकांश के सम्मिलित अंश से अन्तःकरण का पंचम अंश अहंकार होता है जिसका देवता रुद्र है, और विषय है— ज्ञात वस्तु में अहं मम

घ्राण इंद्रिय बनती है, जिसे कोई कोई नासिका इन्द्रिय या गन्धेन्द्रिय भी कहते हैं। यह ज्ञानेन्द्रिय है। इसका देवता पृथ्वी या अश्विनी-कुमार हैं और विषय है—गन्धज्ञान।

सात्त्विकांश के सम्मिलित अंश से अन्तःकरण-पंचक का अन्तिम प्रतीयमान पार्थिवांश अहङ्कार उत्पन्न होता है। यह छठी सृष्टि वाले अहं तत्त्व से भिन्न होता है; क्योंकि वह अहं तत्त्व, आन्तर सृष्टि का पदार्थ एवं महाभूतों का उत्पादक है, किन्तु यह अहंकार बाह्य सृष्टि का पदार्थ और पृथ्वी से जन्य है। वह समष्टि तत्त्व है और यह व्यष्टि तत्त्व पार्थिव पदार्थ तथा अन्तःकरण है। इस तरह दोनों में बहुत अन्तर है। अस्तु।

यह अहङ्कार अभिमानात्मक होता हैं, जो कि विशेषतया हृदयदेशवर्ती और सामान्यतया सर्व शरीरव्यापी होता है। इसका देवता रुद्र है और विषय हैं—अहं-मम-बुद्धि। अर्थात् (मन-बुद्ध्यादि द्वारा ज्ञात पदार्थों में से) किसी में—'यह मैं हूं,'—'यह मैं नहीं हूं,'—'मैं ऐसा हूं,'—'मैं वेसा हूं' 'मैं यह करूंगा,'—'मैं यह नहीं करूंगा,'—'यह मेरा है,'—यह मेरा नहीं,' इत्यादि मिथ्या भावों का मिथ्या अभिमान करना ही

का संबंध जोड़ना। अर्थात् अभिमान करना।

राजसांश के पृथक् अंश से पायु (=गुदा) नामक कर्मेन्द्रिय बनती है, जिसका देवता यम और कार्य है-गन्ध-त्याग। राजसांश के सम्मिलित अंश से कटि-देशीय अपान वायु बनता है; जिसका देवता सामवायु है, और कार्य है—मलोत्सर्जन=मल त्याग।

तामसांश के पृथक् अंश से गन्ध नामक विषय होता है और सम्मिलित अंश से नासा-पायु गोलकों में क्रमशः

इसका विषय है।

राजसांश के पृथक् अंश से प्रायः गुदा द्वार रूप गोलक में रहने वाली पायु इन्द्रिय बनती है; जिसे गुदा इन्द्रिय या गुह्येन्द्रिय भी कहते हैं। यह कर्मेन्द्रिय है। इसका देवता यम या निऋ ति है और कार्य है–गंध-त्याग।

राजसांश के सम्मिलित अंश से प्राण-पंचक-गत कटि-प्रदेशवर्ती अपान वायु बनता है; जिसका देवता साम वायु है, और कार्य है--आमाशय के अन्न रस आदि के मल भाग को अन्तड़ियों द्वारा ढकेल कर मलाशय में एवं मूत्राशय में एकत्र होने पर बाहर निकालना।

तामसांश के पृथक् अंश से गंध विषय उत्पन्न होता है। यह दो प्रकार का होता है --१. सुगन्ध और २. दुर्गन्ध। इनमें

गन्धग्राहिका एवं गन्धापसारिका गंधतंतुओं की उत्पत्ति होती है। इस तरह अपंचीकृत पृथ्वी का व्याख्यान पूरा हो चुका।

यहां तक ग्याहरवीं सृष्टि का निरूपण हुआ है॥११॥

१२. सभी महाभूतों के समष्टि पञ्चीकृत भागों एवं पृथ्वी के समष्टि अपंचीकृत भाग के सम्मेलन का नाम भूतपञ्चक है। यही चैतन्याधिष्ठित पञ्चीकृत पंचमहाभूत

से से प्रत्येक के पांच-पांच भेद होते हैं। यथा--

१. मन्दगन्ध–कर्णिकार (कनेर) पुष्प या खांड, २. मध्यमगन्ध-गुलाब, मोगरा, चमेली आदि, ३. तीव्रगन्ध--इत्र या अर्क आदि, ४. तीव्रतरगन्ध--मुर्दे की सड़ांद एवं एसिड, ५. तीव्रतम गन्ध-घ्राणेन्द्रिय विनाशक द्रव्य एव तेज एसिड आदि।

इस तामसांश के सम्मिलित अंश से सामान्यतया सर्वशरीरस्थ और विशेषतया नासिका गोलक एव पायु-गोलक में क्रमशः गन्ध-ग्राहिका एव गन्धापसारिका गन्ध तन्तुओं की उत्पत्ति होती है।

इस तरह व्यष्टि अपंचीकृत पृथ्वी तत्त्व का निरूपण हुआ, और अपंचीकृत पृथ्वी का भी व्याख्यान कर दिया गया है।

यहां तक ग्यारहवीं सृष्टि का निरूपण किया गया है॥११।

१२. सभी महाभूतों के समष्टि पंचीकृत भागों एव पृथ्वी के समष्टि अपंचीकृत भाग के सम्मेलन का भूतपंचक नाम

भी कहलाता है। इन्हीं से जीवों के कर्मफलभोग के लिए आवश्यक सामग्रियां बनती हैं। ये सामग्रियां भी मुख्य रूप से पांच हैं जिन्हें क्रमशः पांचों महाभूतों के अंश से जन्य जानना चाहिए। जैसे—

१. भोग के देश-अर्थात्=जीव को जहां भोग मिलेगा।
२. भोग के काल „ „ जब „ ।
३. भोग के वस्तु „ „ जो कुछ „ ।
४. भोग की क्रियाएं „ „ जिन क्रियाओं से युक्त भोग मिलेगा।
५. भोग स्वरूप „ „ जिस प्रकार का „ ।

पड़ता है। यह चैतन्याधिष्ठित- समष्टि-पंचीकृत पंच महाभूत कहलाता हैं। इन्हीं से जीवों के कर्मफलोप-भोगार्थ सामग्रियां बनती हैं। वे पांच सामग्रियां मुख्य रूप से ये हैं—

१. भोग के देश-अर्थात् जीव को जहां भोग मिलेगा।
२. मोग के काल —„—जब—„—„—।
३. भोग के वस्तु —„—जो कुछ—„—।
४. भोग की क्रियाएं–„–जिन क्रियाओं से युक्त भोग मिलेगा
५. भोग के स्वरूप –„– जिस प्रकार का भोग मिलेगा।

(१) इनमें से देश के दो भेद हैं—१. देश और २. दिशा।

दिशा के भी मुख्य भेद चार हैं। कुल दिशाएं दस होती हैं।

भोग के देश को ही ब्रह्माण्ड कहते हैं। प्रायः प्रत्येक ब्रह्माण्ड में चौदह लोक (=भुवन) होते हैं। जिन में सात ऊपर और सात नीचे होते हैं।

---

१. इनमें से देश के दो भेद होते है—१. देश और २. दिशा उनमें से मुख्य दिशाएं चार और कुल दस होती है।

इनके नामक्रमशः ये हैं—१. पूर्व २. आग्नेय ३. दक्षिण ४. नैर्ऋत्य ५. पश्चिम ६. वायव्य ७. उत्तर ८. ईशान तथा ९. ऊर्ध्व= ऊपर और १०. अधः=नीचे। ये दश दिशाएं कही गईं। इनके अधिष्ठाता देवताओं के नाम क्रमशः ये हैं—१. महेन्द्र या सूर्य, २. वैश्वानर या अग्नि, ३. यम, ४. निर्ऋति, ५. वरुण, ६. वायु, ७. कुबेर, ८. ईशान या महेश्वर, ९. ब्रह्मा और १०. नाग।

भोग के देश को ही ब्रह्माण्ड कहते हैं। ये अनेकों होते हैं। प्रायः प्रत्येक ब्रह्माण्ड में १४ लोक होते हैं जिन्हें चौदह भुवन भी कहते हैं। इनमें से १. ऊर्ध्व-लोक-सप्तक और २. अधोलोक-सप्तक ऐसे दो भेद होते हैं।

ब्रह्माण्ड के मध्य में रहने वाली पृथ्वी के जम्बूद्वीप में यह भारतवर्ष है जोकि जम्बूद्वीप का $\frac{1}{12}$ वां और

ऊर्ध्व लोक सप्तक में क्रमशः १. भूर्लोक, २. भुवर्लोक, ३. स्वर्लोक, ४. महर्लोक, ५. जनलोक, ६. तपोलोक और ७वां सत्यलोक है। इसी सत्यलोक को ब्रह्मलोक भी कहते हैं।

अधोलोक सप्तक में क्रमशः—१. अतल २. वितल ३ सुतल ४. रसातल, ५. तलातल, ६. महातल और ७वां पाताल है। पाताल को नागलोक भी कहते हैं।

उपर्युक्त चौदह भुवनों में यह पृथ्वी, नामक भूलोक समस्त ब्रह्माण्ड के नाभिस्थानीय अर्थात् मध्य में है।

1. इसके सात (या नव) द्वीपों में से एक यह जम्बूद्वीप =यूरेशिया (एशिया) है। अन्यमत में आफ्रिका यूरोप एशिया तीनों का मेल।

उनके नव वर्षों में से एक यह भारतवर्ष है। इस तरह हमारा यह भारतवर्ष, जम्बूद्वीप का $\frac{1}{12}$वां भाग है और पूरे ब्रह्माण्ड का $\frac{1}{1176}$ वां भाग है। (पाकिस्तान सहित) भारतवर्ष का क्षेत्रफल 1571964 वर्गमील अर्थात् 1162919000 एकड़ है। (1 वर्गमील में 639$\frac{4}{5}$ एकड़ होते हैं)

इसकी पूर्व-पश्चिम चौड़ाई 1900 मील और उत्तर दक्षिण लम्बाई 2000 मील है।

II. पृथ्वी का व्यास 7925 मील है और परिधि 25000 मील है।

ब्रह्माण्ड का $\frac{1}{1176}$ वां भाग है । पृथ्वी का व्यास 7925 मील है। इस से सूर्य $109\frac{1}{45}$ गुणा =864000 मील व्यास वाला है। इनकी आपस में दूरी नौ करोड़ तीस लाख मील है। पृथ्वी से चन्द्रमा दो लाख चालीस हज़ार मील दूर है। इस के अतिरिक्त और भी अनन्त ग्रह नक्षत्र तारा आदि हैं।

(२) काल के मुख्य तीन भेद हैं—१. भूत २. वर्तमान और ३. भविष्यत् ।

III. सूर्य पृथ्वी से $109\frac{1}{45}$ गुणा व्यास वाला है, अर्थात् सूर्य का व्यास आठ लाख चौंसठ हजार मील है 8 64.000 (या 8529000) मील। अर्थात् सूर्य में हमारी पृथ्वी जैसी दस लाख (10.00.000) पृथ्वियां समा सकती हैं ।

III. पृथ्वी से सूर्य की दूरी नौ करोड़ तीस (सत्ताइस) लाख मील है। $9.\frac{30}{27}.00.000$ ।

V. पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी दो लाख चालीस/अड़तीस हजार ( )/आठ सौ सत्तावन मील है।

इस तरह यह देश सम्बंधी संक्षिप्त विवेचन है। विस्तृत विवेचन की दर्शनशास्त्र में आवश्यकता नहीं है, इसलिए नहीं कहा गया। विशेष जिज्ञासु लोग वेदान्त-प्रवेश-विमर्श में देखें।

२. काल के मुख्य तीन भेद होते है—जैसे—१. भूतकाल, २. वर्तमानकाल और ३. भविष्यत् काल ।

इनकी गणना का माध्यम एक दिन रात है, जो साठ घड़ी या चौबीस घण्टों का होता है। तीस दिन-रात्रि का एक मास और बारह मास का एक वर्ष होता है। चार लाख बत्तीस हज़ार सौर वर्षों का एक कलियुग होता है। कलियुग से द्वापर आदि क्रमशः दूने तिगने और चौगुने होते हैं। तिरालीस लाख बीस हज़ार

इनकी गणना का माध्यम अहोरात्र अर्थात् एक दिनरात है जो प्रायः एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक (अथवा एक मध्य-रात्रि से दूसरी मध्यरात्रि तक) के परिमाणवाला माना जाता है। यह साठ घड़ी या चौबीस घण्टों का होता है।

एक दिन रात में साठ घड़ियां या चौबीस घण्टे होते हैं। एक घड़ी में साठ पल, एक पल में छै प्राण, एक प्राण में साठ लीक्षक, एक लीक्षक में साठ लव एक लव में साठ रेणु और एक रेणु में साठ त्रुटि होते हैं।

यह त्रुटि ही समय का न्यूनतम मान है। यह एक सेकण्ड का बत्तीस लाख चालीस हजारवां भाग माना जाता है।

तीस दिन-रात का एक मास, और ऐसे बारह मास का एक वर्ष होता है। चार लाख बत्तीस हजार सौर वर्षों का एक कलियुग होता है। कलियुग के मान से द्वापर, त्रेता और सत्य-युग क्रमशः दूने, तिगुने और चौगुने हैं।

कलियुग के दस गुने समय को महायुग, चतुर्युगी या चौकड़ी

सौर वर्षों की एक चतुर्युगी को ब्रह्मा जी का एक दिन या कल्प कहते हैं इस में ४ अरब ३२ करोड़ सौर वर्ष होते हैं। और इतने ही समय की एक रात्रि। इस दिनरात्रि में आठ अरब चौंसठ करोड़ सौर वर्ष होते हैं।

भी कहते हैं। यह त्रिरालिस लाख बीस हजार सौर वर्षों का होता है। [४३.२०.००० वर्ष = १ चतुर्युगी]

ऐसे ऐसे इकहत्तर महायुगों का एक मन्वन्तर होता है, तथा एक हजार महायुगों के मान को ब्रह्मा जी का एक दिन या कल्प भी कहते हैं और इतने ही समय को एक रात्रि या कल्प। इस तरह ब्रह्मा जी के केवल दिन में ४ अरब ३२ करोड़ सौर वर्ष और ब्रह्मा जी के अहोरात्र रूप दिन रात में आठ अरब चौंसठ करोड़ सौर वर्ष होते हैं। [१ कल्प = ८.६४.००.०००वर्ष]

अपने अहोरात्र के मान से ब्रह्मा जी पूर्णायु सौ वर्षों की होती है अर्थात् इकतीस नील, दस खरब, चालीस अरब सौर वर्ष। अभी सन् १९६२ तक वर्तमान ब्रह्मा जी की आयु में से १५ नील ५५ खरब २१ अरब ९७ करोड़ २९ लाख ४९ हजार ६२ सौर वर्ष बीत चुके हैं। ब्रह्मा जी की आयु के ५१वें वर्ष के प्रथम दिन का प्रथम प्रहर व्यतीत हो रहा है।

ऐसे ही विष्णु जी की पूर्णायु-एक महाशंख, छयासीशंख, बासठ पद्म, चालीस नील, सौर वर्षों की होती है।

इसी तरह रुद्र जी की पूर्णायु ४·४७.८९.७६ महाशंख सौर

इस प्रकार कालचक्र का अन्त नहीं होता। यही काल का संक्षिप्त वर्णन है।

(३) भोगवस्तु पांच कोटि में विभक्त हैं—जैसे १. शब्द २. स्पर्श ३. रूप ४. रस ५ गंध।

वर्षों की होती है और यही ब्रह्माण्ड की भी पूर्णायु होती है।

परन्तु काल चक्र का अन्त फिर भी नहीं होता (रुद्रश्चात्मनि लीयेत निरालम्बे निरामये । बृहत्पराशर स्मृति—१२-१८८-१९१ इस कालचक्र की नियंत्री महाशक्ति है जोकि स्वयं कुछ करने में असमर्थ होने से, परब्रह्म रूप महेश्वर की सत्ता पर आश्रित होती है। अभी सन् १९६२ तक, वर्तमान सृष्टि में १ अरब ९७ करोड़, २९ लाख, ४१ हजार, ६२ वर्ष एवं कलि के ५०६२ बीत चुके हैं । कलि के ४.२६. ९५८ सौर वर्ष अभी शेष हैं। कल्प के शेष-२-३४-७०-५०-९३८ सौर वर्ष हैं [सनातन धर्मालोक पंचम के ६०८ और ६०९ पृष्ठ देखिये।]

३. प्रत्येक महाभूतों के व्यष्टि पचीकृत भागों के तामसांशों के पृथक् भागों के मेल से भोग्यवस्तु बनते हैं; इनकी गणना कोई भी नहीं कर सकता। हां, इनकी गिनती करने, अर्थात् इनकी जानकारी करने का एक ढंग अवश्य है । वह यह—कि यह भोग्य वस्तु जात पांच कोटियों में विभक्त होता हैं—जैसे—१. शब्द, २. स्पर्श, ३. रूप, ४. रस, ५. गन्ध।

ब्रह्माण्डवर्ती भूतभौतिक स्थूल सूक्ष्म रूप सभी चैतन्यभिन्न-पदार्थ ही भोग्यवस्तु हैं; और अविद्या-विशिष्ट-चैतन्य जीव

(४) भोग की क्रियाएं १. संयोग रूपा और २. वियोग रूपा होती हैं।

(५) भोगों के स्वरूप सुख रूप या दुःख रूप कहे जाते हैं।

यहां तक बारहवीं सृष्टि का निरूपण हुआ है ॥१२॥

इनका भोक्ता कहलाता है। भोग्यवस्तुओं का विशेष वर्णन तो महाभूतों के प्रसग में हो चुका है।

४. भोग की क्रियाएं १. संयोग-रूपा और २. वियोग-रूपा होती हैं। इन्हीं दोनों से सर्व प्रथम स्पन्द-रूप सूक्ष्म-क्रिया होती है तदनन्तर गति-रूप स्थूल-क्रिया होती है।

इस गति रूप क्रिया के सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद हैं—जिनमें से १. सामान्यगति में भ्रमणादि भी सम्मिलित हैं। और २. विशेष गति के चार भेद होते हैं—१. उत्क्षेपण, २. अपक्षेपण ३. आकुञ्चन और ४. प्रसारण। इन्हीं क्रियाओं के द्वारा जीव को शब्दादि विषयों के भोग प्राप्त होते हैं।

५. रूप—भोगी के स्वरूप तो अनिर्वचनीय होते हैं, परन्तु यह जीव मन रूप अन्तःकरण के द्वारा उनमें सुख या दुःख की कल्पना करता है। अत एव वे भोग-सुख रूप या दुःख रूप कहे जाते हैं।

यहां तक बारहवीं सृष्टि का निरूपण हुआ है ॥१२॥

१३. तेरहवीं सृष्टि में सभी महाभूतों के व्यष्टि पञ्चीकृत भागों के एकत्रीकरण से प्रायः सभी प्राणियों के स्थूल शरीर बनते हैं। ये भाग गिनती में पच्चीस होते हैं, इसी लिये इस स्थूल देह को पच्चीस तत्त्वों का देह भी कहते हैं। पांच भौतिक देह और भोगायतन भी इसी के नाम हैं।

इन शरीरों के पांच महाभूतों की प्रधानता से पांच विभाग हैं। जैसे—

१. आकाशीय २. वायवीय ३. आग्नेय ४. जलीय और ५. पार्थिव शरीर।

---

१३. तेरहवीं सृष्टि में सभी महाभूतों के व्यष्टि पंचीकृत भागों के एकत्रीकरण से, जो कि संख्या में पच्चीस होते हैं, प्रायः सभी प्राणियों के स्थूल शरीर बनते हैं; इसीलिये इस स्थूल देह रूप शरीर को पच्चीस तत्त्वों का देह भी कहते हैं—और पांचभौतिक भी कहते हैं। इन्हीं शरीरों को भोगायतन या भोगभूमि भी कहते हैं।

इन शरीरों के पांच विभाग हैं—१. आकाशीय शरीर २. वायवीय शरीर, ३. आग्नेय शरीर, ४. जलीय शरीर और ५. पार्थिव शरीर।

१. आकाशीय शरीर, आकाश-भूतात्मक होता है—अर्थात्

स्वर्गीय, नारकीय, आतिवाहिक और यम यातना आदि सांकल्पिक शरीर आकाशीय शरीर के ही भेद हैं।

भूतप्रेत पिशाचादि के तथा वायुलोकवासियों के के वायवीय शरीर होते हैं।

उसमें आकाशतत्त्व की प्रधानता होती है। ये शरीर प्रायः साङ्कल्पिक होते हैं। इनके निम्न ग्यारह भेद होते हैं—

१. स्वर्ग भोगार्थ दिव्य देह या स्वर्गीय शरीर २. स्वर्ग नरक गमन पर्यन्त या अन्य शरीर प्राप्ति पर्यन्त जो साङ्कल्पिक शरीर मिलते हैं उन्हें आतिवाहिक या अधिष्ठान शरीर कहते हैं। ३. नरक भोगार्थ--यम यातना शरीर। ४. नरकवासी यमदूतों का नारकीय शरीर।

५. सङ्कल्पजन्य मनुष्य देह। ६. सं. ज. पशु देह, ७. सं.ज पक्षि देह ८. सं. ज. स्थावर देह, ९. स. ज प्रस्तरादि देह, १०. स. ज. भूतदेह, ११. सं. ज. भौतिक देह।

भूत देहों का अर्थ है—पञ्चमहाभूतों में से किसी तत्त्व रूप देह। और भौतिक देह का अर्थ है—किसी पाञ्चभौतिक तत्त्व के रूप वाला देह। ऐसे ये सभी शरीर प्रायः साङ्कल्पिक होते हैं।

२. वायवीय शरीर में वायु-तत्त्व की प्रधानता होती है—जिसे देव, गंधर्व, भूत, प्रेत, पिशाच आदि यदा-कदा धारण करते हैं, और वायुलोक वासी भी।

आग्नेय—प्रायः अग्निलोक एवं सूर्यलोक में होते हैं।

जलीय शरीर—प्रायः वरुणलोक में होते हैं।

पार्थिव शरीर—प्रायः पृथ्वीलोक में रहते हैं।

पार्थिव शरीरों के १. जङ्गम और २. स्थावर ऐसे दो भेद होते हैं। इन में से १. जंगम के प्रथम तीन भेद और २. स्थावर का अन्तिम चौथा— ऐसे चार भेद हैं। इन्हें ही चार आकर, खानि या योनि भी कहते हैं। वे ये हैं—१. पिण्डज या जरायुज २. अण्डज या द्विज ३. स्वेदज या ऊष्मज ४. उद्भिज्ज या स्थावर।

---

३. आग्नेय शरीर प्रायः अग्निलोक एव सूर्यलोक में होते हैं।

४. जलीय शरीर प्राय- वरुणलोक में होते हैं।

५. पार्थिव शरीर, प्रायः पृथ्वीलोक (तथा अन्यग्रह नक्षत्र तारा आदि) में रहते हैं। इन पार्थिव शरीरों के प्रधान भेद दो हैं—१. जङ्गम और २. स्थावर। १. जङ्गम के प्रथम तीन भेद और २. स्थावर का अंतिम चौथा भेद। ऐसे चार भेद होते हैं, जिन्हें चार आकर, खानि, या योनि भी कहते हैं।

वे ये हैं—I. पिण्डज या जरायुज, II. अण्डज या द्विज, III. स्वेदज या ऊष्मज III. उद्भिज्ज या स्थावर।

I, पिण्डज या जरायुज के प्रायः दो भेद होते हैं—१. मानव और २. पशु इनमें से प्रत्येक के भी १. नर और २. नारी ऐसे

मनुष्य के अतिरिक्त निम्न योनियों को तिर्यक् योनि कहते हैं।

इन तिर्यक् योनियों में कहीं एक, दो या तीन इन्द्रियों की न्यूनता रहती है।

दो दो भेद होते हैं—जिन्हें क्रमशः पुरुष देह और स्त्री देह भी कहते हैं।

मानवातिरिक्त निम्न योनियों को तिर्यग्योनि कहते हैं।

पशुदेहों के—१. ग्राम्य और २ आरण्यक—ऐसे दो दो भेद होते हैं। ये शरीर प्रायः पञ्च ज्ञानेन्द्रिय युक्त होते हैं।

II. अण्डज या द्विज के दो दो भेद होते हैं १. पक्षी और २. कृमि। इन पक्षि शरीरों के भी स्त्री-पुरुष भेद से दो दो भेद होते हैं। उनके भी चार चार भेद होते हैं १. वायुचर, २. अग्निचर, ३. जलचर और ४. थलचर। इन पक्षिशरीरों में। कहीं कहीं एक ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रियका लोप भी देखा जाता है

कृमि देहों के भी स्त्री-पुरुष भेद प्रायः होते ही हैं। ये कीट भी १. वायुचर, २. अग्निचर, ३. जलचर और ४. थलचर होते हैं।

उनमें से वायुचर प्रायः कीटाणु होते हैं। अग्निचर, कीट विशेष होते हैं। जलचर, मत्स्यादि हैं; और थलचर, सर्पादि हैं।

इनमें कहीं कहीं एक इन्द्रिय का लोप रहता है, जैसे भ्रमर में श्रोत्रइन्द्रिय का लोप। चींटी में श्रोत्र और नेत्र का लोप। सीप

उपर्युक्त चारों योनियों में प्रायः स्त्री पुरुष का भेद पाया ही जाता है। इन सभी में जानकारी के होने से इन्हें चेतन जीव का निवास कहा जाता है।

घोंघा आदि में तीन (याने श्रोत्र नेत्र और घ्राण) इन्द्रियों का लोप होता है।

कई कीटों में—शरीर के किसी अंश-विशेष से भी नये कीट शरीर की उत्पत्ति होती है—जैसे मेंडक, केंचुआ आदि।

इन्हीं कीटों में कुछ स्थावर भी होते हैं–जसे स्पञ्ज आदि।

III. स्वेदज या ऊष्मज के प्राय: दो भेद होते हैं—१. वायु-चर और २. थलचर। इनमें भी प्राय: स्त्री पुरुष भेद होता ही है।

ये गर्मी या मैल से, तथा अपने मां बाप से भी अण्डों के द्वारा—इन दोनों में से किसी भी एक रीति से पैदा होते हैं—जैसे—जुआं, खटमल, मच्छर आदि।

III. उद्भिज्ज या स्थावर में प्राय: कई ज्ञानेन्द्रियों का लोप देखा जाता है; पर प्रत्येक में १. स्पर्शेन्द्रिय और २. रसनेन्द्रिय अवश्य होता है।

ये जलचर और थलचर दोनों प्रकार के होते हैं। कहीं-कहीं इनमें स्त्री-पुरुष का भेद भी पाया जाता है।

ये सभी शरीर अन्नमय होते हैं; इसीलिए ये अन्नमय कोश कहलाते हैं।

इन शरीरों को मेरा या मैं मानने वाला यह चैतन्य व्यष्टि में विश्व और समष्टि में वैश्वानर या विराट् कहलाता है। ये सभी शरीर अन्नमय होने से अन्नमय कोश कहलाते हैं।१३॥

१४. चौदहवीं सृष्टि में सभी भूतों के व्यष्टि अपंचीकृत भागों के एकत्रीकरण से सूक्ष्म शरीर बनता है जिसे पुर्यष्टक, या लिङ्ग शरीर भी कहते हैं।

इस तरह तेरहवीं सृष्टि के भोगायतनों (=शरीरों) को—मेरा या मैं माननेवाला यह चैतन्य, व्यष्टि में अभिमान से विश्व कहलाता है। समष्टि के अभिमानी चैतन्य को विराट् या वैश्वानर कहते हैं॥१३॥

१४. चौदहवीं सृष्टि में सभी भूतों के व्यष्टि अपंचीकृत भागों के एकत्रीकरण से सूक्ष्म शरीर बनता है, अर्थात् जो पहले अव्यक्त रूप से था वही अब प्रकट होता है। सूक्ष्म शरीर को ही—लिङ्ग शरीर, पुर्यष्टक-शरीर आदि भी कहते हैं।

यों तो इस शरीर में पंचमहाभूतों के तामसांशों की गिनती नहीं होती, क्योंकि सम्मिलित अंश से बने गोलकादि तो स्थूल देह में ही सम्मिलित हो जाते हैं; और विषय भी भोग वस्तुओं के रूप में ही गिने जाते हैं। फिर भी पुर्यष्टक की आठ पुरियों की गिनती में – विषय-पंचक की गिनती हो भी जाती है। जैसे कि १ अन्तःकरण-पचक २. ज्ञानेन्द्रिय पंचक, ३. कर्मेन्द्रिय-

इस सूक्ष्म शरीर में पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, तथा अन्तःकरण-चतुष्टय— ऐसे उन्नीस तत्त्व होते हैं।

इस सूक्ष्म शरीर में तीन कोश होते हैं, उनमें से—

१. पंचप्राण और पंच कर्मेन्द्रियों से प्राणमय कोश बनता है।

पंचक, ४. प्राणपचक, ५. विषय पंचक (या भूतपंचक) एवं ६. काम, ७. कर्म, और वासना। ये ही आठ पुरियां हैं। इन्हीं के एकत्रीकरण को पुर्यष्टक कहते हैं।

चूंकि काम, कर्म, और वासना—ये अन्त:करण में स्थित रहते हैं, और विषय बाहर ही रहते हैं; अतएव चार पुरियों के समुदाय रूप बीस तत्त्वों के समूह को सूक्ष्म शरीर कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

कुछ आचार्य अन्त:करण पंचक के स्थान मेंअन्त:करण—चतुष्टय लेकर उन्नीस तत्त्वों को ही सूक्ष्म शरीर कहते हैं; तथा कुछ मन और बुद्धि को ही अन्त:करण मानते हुए सत्रह तत्त्वों को ही सूक्ष्म शरीर कहते हैं। निश्चित ही ये लोग अन्त:करण का चारों में, या चित्त का मन में, और अहङ्कार का बुद्धि में अंतर्भाव करते हैं। अन्तिम दोनों मत अधिक प्रचलित हैं।

इस सूक्ष्म शरीर में तीन कोश होते हैं—यथा—

१. पंचप्राण एव पंचकर्मेन्द्रियों से प्राणमय कोश होता है।

२. मन और पंचज्ञानेन्द्रियों से मनोमय कोश होता है।

२. मन और पंच - ज्ञानेन्द्रियों से मनोमय-कोश बनता है।

३. बुद्धि और पंच-ज्ञानेन्द्रियों से विज्ञानमय-कोश बनता है।

इस सूक्ष्म-शरीर के अभिमान से चैतन्य का नाम व्यष्टि में तैजस और २. समष्टि में सूत्रात्मा या हिरण्य गर्भ पड़ता है।

अविद्या को ही कारण शरीर कहते हैं और आनन्द-मय-कोश भी। इस के अभिमान से चैतन्य का नाम १. व्यष्टि में प्राज्ञ और २. समष्टि में ईश्वर या अन्तर्यामी कहलाता है। यहां तक चौदहवीं सृष्टि है ॥१४॥

---

३. बुद्धि और पंचज्ञानेन्द्रियों से विज्ञानमय कोश होता है।

इस सूक्ष्म शरीर के अभिमान से चैतन्य का नाम, १. व्यष्टि में तैजस और २. समष्टि में सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ कहजाता हैं।

चौथी सृष्टि के प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि अविद्या को ही कारण शरीर कहते हैं। और यही आनन्दमय कोश भी कहलाता है।

इस कारण शरीर के अभिमान से चैतन्य का नाम—१. व्यष्टि में प्राज्ञ और २. समष्टि में ईश्वर या अन्तर्यामी कहलाता है।

१५. इस पन्द्रहवीं सृष्टि में तृतीय सृष्टि में कहे गये द्रव्य और द्रव्याश्रित धर्मों का ही नाम-निर्देशात्मक संक्षिप्त निरूपण किया जाता है—

अभी तक वर्णित सभी पदार्थ प्रमेय-कोटिक हैं, जिन में भाव-रूप द्रव्यों की प्रधानता है। अब उन द्रव्यों के आश्रित धर्मों का निरूपण किया जाता है; जिन की सृष्टि द्रव्यों के साथ ही हो जाती है। ये गिनती में चार हैं।

१. सादृश्य, २. क्रिया, ३. शक्ति, और ४. गुण।

यहां तक चौदहवीं सृष्टि का व्याख्यान हुआ है ॥१४।

१५. इस पन्द्रहवीं सृष्टि में चौदहवीं सृष्टि तक कहे गये द्रव्यों के आश्रित रहने वाले धर्मों का संक्षिप्त निरूपण किया जाता है। ये द्रव्य प्रमेय कोटिक पदार्थ हैं इन्हें, अत: भावरूपद्रव्य भी कहते हैं। इन्हीं द्रव्यों के साथ ही द्रव्याश्रित धर्मों की भी सृष्टि हो जाती है—पर वर्णन अब किया जाता है।

१. प्रथम धर्म है– सादृश्य। एक वस्तु की दूसरे वस्तु से किसी अंश में होनेवाली समानता को ही सादृश्य कहते हैं। यह नाना अर्थात् अनेक है।

२. द्वितीय धर्म--क्रिया है—जिसका निरूपण बारहवीं सृष्टि में हो चुका है।

३. तृतीय धर्म-शक्ति है–जो भिन्न-भिन्न प्रकार की अतएव नाना है। इसे मीमांसक भी मानते हैं और वेदान्ती भी।

इनमें से गुण के उन्नीस भेद होते हैं—ये सभी गुण द्रव्य में ही रहते हैं । १. शब्द, २. स्पर्श, ३. रूप, ४. रस, ५. गंध, ६. संख्या, ७. परिणाम, ८. संयोग,

---

४. चतुर्थ धर्म है– गुण । ये गुण संख्या में उन्नीस होते हैं, और द्रव्य रूप पदार्थों में न्यूनाधिक रूप से रहा करते हैं ।

१—५—शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध– ये पांच गुण तो विषय के रूप में सातवीं सृष्टि से बारहवीं सृष्टि तक के निरूपण में कहे जा चुके हैं । अतः उसका पुनः स्मरण कर्तव्य है ।

६. संख्या । एकत्व-द्वित्वादि को संख्या कहते हैं । उनमें से एकत्व तो नित्य-द्रव्यगत नित्य होता है और अनित्य-द्रव्यगत अनित्य । परन्तु द्वित्त्व-त्रित्वादि तो अनित्य ही होते हैं ।

७. परिमाण–अणु, ह्रस्व,दीर्घ, महत् ऐसे चार परिमाण हैं ।

१. अणु–सूर्य रश्मि में उड़ते हुए देखे जाने वाले कण को रेणु या रज कहते है; उसके साठवें भाग को अणु या परमाणु कहते हैं परन्तु कोई-कोई रज के छठे भाग को, और कोई तो रज को ही—अणु या परमाणु कहते हैं । अस्तु ।

II. ह्रस्व=छोटा । ह्रस्व, किसी दीर्घ की अपेक्षा से होने वाला परिमाण है ।

III. दीर्घ=वड़ा । दीर्घ, किसी ह्रस्व की अपेक्षा से होने वाला परिमाण है ।

IIII. महत् = व्यवहार दशा में आकाशादि कुछ पदार्थ महत्परिमाण वाले माने जाते हैं। इनकी महत्ता या व्यापकता पारमार्थिकी नहीं है, अपितु सापेक्ष ही है।

८. संयोग १.–इसके तीन भेद हैं—१. एक-कर्मज २. उभय-कर्मज और ३. संयोग-ज । इनमें से प्रत्येक के अभिघात (= ठोकर) और नोदन (= स्पर्श) से होने वाले दो दो भेद और भी होते हैं।

९. विभाग। –इसके भी तीन भेद हैं— १. एक-कर्मज २. उभय-कर्मज और ३. विभाग-ज । इस विभाग-ज विभाग में– १. हेतुमात्र और २. हेत्वहेतु–ऐसे दो भेद होते हैं।

१०. परत्व। इसके दो भेद हैं— १. दैशिक परत्व और २. कालिक-परत्व ।

११. अपरत्व। इसके भी दो भेद हैं– यथा १. दशिक-अपरत्व और २. कालिक-अपरत्व ।

१२. गुरुत्व = भारीपन ।

उपर्युक्त परत्वादि तीनों गुण सदा ही अपेक्षाकृत होते हैं।

१३. द्रवत्व = पानी जैसा पतलापन। इस के दो भेद होते हैं –१. सांसिद्धिक (= स्वाभाविक) यथा जल, और नैमित्तिक, यथा लाक्षा (= लाख) श्वेता (= फिटकिरी) मिश्री आदि।

१४. स्नेह = दो पदार्थों को चिपकाने वाला गुण। यह

स्नेह, जल-तत्त्व में ही होता है। घी, तैल, गोंद, इक्षुरस आदि को सिद्धान्त-त: जल-तत्त्व ही जानना चाहिये।

१५. धर्म—सुखोत्पादक-संस्कार-विशेष को धर्म कहते हैं। यह गुण भी बुद्धिरूप अन्तःकरण में होता है।

१६. अधर्म—दुःखोत्पादक-संस्कार-विशेष। यह भी बुद्धि का ही गुण है। इन्हीं दोनों को अदृष्ट या अपूर्व भी कहते हैं।

१७. कर्म—उपर्युक्त धर्माधर्मों के कारण शुभाशुभ या पुण्य-पाप रूप कर्म होते हैं; उनमें से प्रत्येक त्रिविध होता है। यह कर्म भी बुद्धि का ही गुण-विशेष है। इनके ३ भेद निम्न हैं–

१. संचित २. प्रारब्ध या संप्राप्त, ३. क्रियमाण या संचीयमान। इन्हीं कर्मों को क्रमशः १. भूतकर्म २. वर्तमान कर्म और ३. भविष्यत्कर्म भी कहते हैं।

इनमें से क्रियमाण-कर्म तो अज्ञानियों के ही फलप्रद होते हैं ज्ञानी, शिशु, पागल, देवादि व पशु-पक्षि-कीटादि के नहीं। क्योंकि इनके क्रियमाण कर्म स्वाभाविक अर्थात् पूर्व-पूर्वसंस्कारजन्य होते हैं। चूंकि इनकी इनमें कर्तृत्व-बुद्धि नहीं होती, इसीलिये ये उनके लिये फलप्रद नहीं होते।

ज्ञानी के अतिरिक्त सभी के संचित और प्रारब्ध कर्म होते ही हैं।

प्रारब्ध कर्म के—१. स्वेच्छा, २ परेच्छा और ३. अनिच्छा, ऐसे तीन भेद होते हैं; जिन में से प्रत्येक के निम्न तीन भेद

होते हैं। यथा—१. मन्द २. तीव्र और ३. तीव्रतर। इनमें से मन्द और तीव्र प्रारब्ध तो क्रमशः तद्विरुद्ध तीव्र, और तीव्रतर पुरुषार्थ रूप उपाय या उपायों द्वारा रुक या दब सकता है; परन्तु अवष्यंभावी फल देने वाला तीव्रतर प्रारब्ध किसी भी उपाय से न रुककर अपना फल प्राणियों को देता ही है।

एक अन्य दृष्टिकोण से कर्म के ६ भेद होते हैं--यथा--

१. प्रतिषिद्ध=वेद-शास्त्र-लोक में वर्णित निषिद्ध कर्म। यथा-कलंज न भक्षयेत्।

२. अविहिताशुभ=वेदादि में न कहा गया अशुभ कर्म।

३. काम्य=लौकिक कामना पूर्वक किया गया शुभ कर्म। यथा--ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्।

४. नित्य=वेदादि में कहे गये, नित्य करने योग्य, अहेतुक शुभ कर्म। यथा--अहरहः संध्यामुपासीत।

५. नैमित्तिक=किसी निमित्त से किये जाने वाले शुभ कर्म। यथा पौर्णमास्या यजेत्। कारीर्या यजेत् वृष्टिकामः।

६. प्रायश्चित=पाप दूर करने के लिये किये जानेवाले शुभ-कर्म। ब्रह्महाऽश्वमेधेन यजेत्।

शुभ कर्मों के एक अन्य दृष्टिकोण से--तीन भेद होते हैं—इष्ट, पूर्त और दत्त। उनमें से आतिथ्यादि इष्ट, वापी-निर्माणादि पूर्त शरणागत संत्राणादि दत्त हैं।

कर्म के गीतोक्त तीन भेद तो प्रसिद्ध ही हैं – १. कर्म= करना, २. अकर्म≡न करना, और ३. विकर्म=विपरीत रूप से, या विपरीत कर्म को, करना।

१८. संस्कार। यह १. दोषापनयन रूप और २. गुणाधान-रूप – ऐसे दो प्रकार का होता है। इनमें से प्रत्येक त्रिविध होता है। यथा—

I. स्थिति-स्थापक-संस्कार – यथा बल पूर्वक झुकाई गई शाखा या खींचे गए रबर का फिर से ज्यों का त्यों हो जाना।

II. भावना—तैलादि में आमलकादि की भावना से आमलक-तैलादि लोक प्रसिद्ध है।

आम्रवृक्ष के भी गूलर-बिल्वादि की भावना से आम्रफल में गूलर-बिल्वादि फल के स्वाद का लाभ।

III. वेग। यह १. कर्म-ज और २. वेग-ज ऐसे द्विविध होता है।

१६. आलस्य=मूढ़भाव। यह भी बुद्धि और शरीर का गुण है। प्रमाद तो बुद्धि का एक दोष है। आलस्य से प्रमाद होता है। कभी प्रमाद स्वतन्त्र भी होता है। यह दोनों का (=में) भेद है। प्रमाद के दो भेद हैं—यथा – १. जानबूझ कर निंद्य-कर्म करना। २. जानबूझ कर विहित कर्म न करना।

यहां तक प्रमेय रूप पदार्थों का वर्णन किया गया है।

१६. अब इस सोलहवीं सृष्टि में प्रमाण रूप पदार्थों का निरूपण करते हैं—

अन्तःकरणों के पृथक् पृथक् स्वरूप एवं देवता तथा विषय या कार्य आदि का निरूपण तो महाभूतों की सृष्टि से लेकर ग्यारहवीं सृष्टि तक हो चुका है; अब सम्मिलित अन्तःकरण की वृत्तियां बतलाई जाती हैं।

ये वृत्तियां दस होती हैं—१. धर्म, २. अधर्म ३. काम=(संकल्प), ४. ज्ञान, ५. राग, ६. द्वेष, ७. सुख, ८. दुःख, ९. इच्छा, १०. प्रयत्न(=कर्म)।

१. धर्म—सुखोत्पादक संस्कार विशेष को धर्म

---

१६. अब प्रमाण रूप पदार्थों का निरूपण करते हैं। इसी को सोलहवीं सृष्टि जाननी चाहिये।

अन्तःकरणों के पृथक्-पृथक् स्वरूप एवं देवता, विषय (= कार्यआदि) का निरूपण तो महाभूतों की सृष्टि के प्रकरण में सातवीं सृष्टि से लेकर ग्यारहवीं सृष्टि तक हो ही चुका है, अतः अब सम्मिलित अन्तःकरण की वृत्तियां बतलाई जाती हैं।

अतःकरण की वृत्तियां दस होती हैं–१. धर्म, २. अधर्म, ३. काम (=संकल्प), ४. ज्ञान, ५. राग, ६. द्वेष, ७. सुख, ८. दुःख ९. इच्छा, १०, प्रयत्न (=कर्म)।

१, २. धर्म-अधर्म का निरूपण पिछली (पन्द्रहवीं) सृष्टि

कहते हैं जो कि बुद्धि रूप अन्तःकरण में होता है ।

२. अधर्म—दुःखोत्पादक संस्कार विशेष है । यह भी बुद्धि का ही है ।

इन्हीं दोनों को अदृष्ट या अपूर्व भी कहते हैं :

३. संकल्प—प्रारम्भिक सूक्ष्म स्पन्दनात्मक स्फुरण को कहते हैं, इसी को काम भी कहते हैं ।

४. ज्ञान—इस ज्ञान रूपा वृत्ति को बुद्धिवृत्ति भी कहते हैं ।

५. राग—अनुकूल पदार्थ में होने वाली आसक्ति को राग कहते हैं ।

६. द्वेष— प्रतिकूल पदार्थ से होने वाली घृणा को

में देखिये ।

३. संकल्प-प्रारम्भिक सूक्ष्म स्पन्दनात्मक स्फुरण को संकल्प कहते हैं । इसी को काम भी कहते हैं ।

४. ज्ञान–यह ज्ञानरूपा वृत्ति बुद्धि वृत्ति भी कही जाती है । इसका निरूपण शीघ्र ही आगे सत्रहवीं सृष्टि में किया जायगा ।

५. राग—सुखद रूप से कल्पित अतः अनुकूल रूप से माने गये पदार्थ में होने वाली आसक्ति को राग कहते हैं । इसी राग से आगे कहे जाने वाले सुख की अभिव्यक्ति होती है ।

६. द्वेष—दुःखद रूप से कल्पित अतः प्रतिकूल रूप से माने

द्वेष कहते हैं।

उपर्युक्त राग-द्वेष से क्रमशः सुख-दुख की अभिव्यक्ति होती है।

७. सुख—हर्षात्मिका मानसिक प्रसन्नता को सुख कहते हैं।

८. दुःख—क्लेशात्मिका मानसिक अप्रसन्नता को दुःख कहते हैं।

९. इच्छा—संकल्परूप काम के स्थूलरूप को इच्छा

गये पदार्थ से होने वाली घृणा को द्वेष कहते हैं। यह राग का विरोधी है। इसी द्वेष से आगे कहे जानेवाले दुःख की अभिव्यक्ति होती है।

७. सुख–राग के विषयभूत पदार्थों की प्राप्त्याशा या प्राप्ति से होने वाली, अथवा द्वेष के बिषयभूत पदार्थों के वियोग की आशा या वियोग से होने वाली, हर्षात्मिका मानसिक प्रसन्नता को सुख कहते हैं।

८. दुःख–द्वेष के विषयभूत पदार्थों की प्राप्त्याशा या प्राप्ति से होने वाली, अथवा राग के विषयभूत पदार्थों के वियोग की आशा या वियोग से होने वाली, क्लेशात्मिका मानसिक अप्रसन्नता को दुःख कहते हैं।

९. इच्छा—संकल्प रूप काम के स्थूल रूप को इच्छा कहते हैं जो राग-द्वेष-जन्य होती है। उपर्युक्त सुख-दुःख की क्रमशः

कहते हैं जो रागद्वेषजन्य होती है। सुख को पाने और दुःख को छोड़ने की—इच्छा होती है।

१०. प्रयत्न (=कर्म)—उपर्युक्त इच्छा से त्रिविध प्रयत्न होता है।

I. जीवनयोनि-रूप II. सुख में प्रवृत्ति-रूप III. दुःख से निवृत्ति-रूप। इन्हीं पिछली (II,III) दोनों प्रवृत्तियों का का नाम कर्म है। यह कर्म— १. संचित २. प्रारब्ध

ईप्सा व जिहासा से यह द्विविध होती है। यथा—१. सुखेप्सा= सुख और सुख के कारण को पाने की इच्छा। २. दुःख-जिहासा=दुःख और दुःख के कारण को छोड़ने की इच्छा।

१०. प्रयत्न (=कर्म) उपर्युक्त इच्छा से कर्मेन्द्रियों की अनुकूल में प्रवृत्ति एवं प्रतिकूल से निवृत्ति रूप व्यापार को प्रयत्न कहते हैं जोकि त्रिविध होता है।

I. जीवन योनि रूप–यथा–रस-रक्तादि-संचार या, श्वास-प्रश्वासादि।

II. सुख व सुखहेतु में प्रवृत्ति रूप। और

III. दुःख और दुःख हेतु से निवृत्ति रूप।

इन्हीं पिछली (II.III) दोनों प्रवृत्तियों का नाम कर्म है, जिसका निरूपण पिछली पन्द्रहवीं सृष्टि में किया गया है ॥१६॥

अब चतुर्थवृत्ति (=ज्ञानवृत्ति या बुद्धिवृत्ति) का ही विशेष विवरण किया किया जाता है।

और ३. क्रियमाण भेद से तीन प्रकार का होता है।

इस प्रकार सोलहवीं सृष्टि पूरी हुई ॥१६॥

१७. इस सत्रहवीं सृष्टि में सम्मिलित अन्तः-करण की चतुर्थवृत्ति का ही विवरण कियाजाता है।

यह ज्ञान रूपा बुद्धिवृत्ति त्रिविध होती है। यथा—

१. प्रमाण रूप २. प्रमा रूपा और ३. अप्रमा रूपा।

(१) उनमें से प्रमाण रूपा वृत्ति से प्रमाण रूप प्रमेय पदार्थों का ज्ञान या अनुभव होता है। ये प्रमाण छै होते हैं।

१. मन और ज्ञानन्द्रियों के ज्ञान से होने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण।

२. व्याप्ति-ज्ञान से होने वाला—अनुमान प्रमाण।

३. सादृश्य-ज्ञान से होनेवाला—उपमान प्रमाण।

यह त्रिविध होती है। यथा—१. प्रमाण-रूपा २. प्रमा-रूपा और ३. अप्रमा-रूपा ज्ञानवृत्ति।

१. उनमें से प्रमाणरूपा वृत्ति से प्रमाणरूप प्रमेय पदार्थों का ज्ञान या अनुभव होता है। ये प्रमाण छै होते हैं यथा।

१. मन और ज्ञानेन्द्रिय-ज्ञानजन्य—प्रत्यक्ष प्रमाण।

२. मन और व्याप्ति-ज्ञानजन्य—अनुमानप्रमाण।

३. मन और सादृश्य-ज्ञानजन्य—उपमान प्रमाण।

४. शब्द-ज्ञान से होनेवाला—शब्द प्रमाण या आगम प्रमाण।

५. अनुपपत्ति-ज्ञान से होनेवाला—अर्थापत्ति प्रमाण।

६. अनुपलब्धि-ज्ञान से होनेवाला—अनुपलब्धि-प्रमाण।

(२) प्रमा रूपा वृत्ति—१. ईश्वराश्रया और जीवाश्रया—इस भेद से दो प्रकार की होती है।

उनमें से जीवाश्रया प्रमावृत्ति दो प्रकार की है—१. पारमार्थिकी और २. व्यावहारिकी। यह व्यावहारिकी जीवाश्रया प्रमावृत्ति त्रिविध होती है—

---

४. मन और शब्द ज्ञानजन्य—शाब्द प्रमाण।

५. मन और अनुपपत्ति ज्ञानजन्य—अर्थापत्ति प्रमाण।

६. मन और अनुपलब्धि-ज्ञानजन्य—अनुपलब्धि प्रमाण।

शाब्द प्रमाण को ही आगम प्रमाण और आप्तप्रमाण भी कहते हैं।

२. बुद्धि की (निश्चयात्मिका) प्रमा रूपा वृत्ति द्विविध होती है। यथा—१. जीवाश्रया और २. ईश्वराश्रया।

उनमें से जीवाश्रया प्रमावृत्ति, द्विविध होती है—

१. व्यावहारिकी और २. अहं ब्रह्मास्मि—श्रुतिजन्य—

१. प्रत्यभिज्ञा रूपा २. स्मृति रूपा और ३. यथार्थानुभव रूपा।

1. 'यह वही देवदत्त है' ऐसे स्मृति मिश्रित प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।
2. विषय के यथार्थ-अयथार्थ भेद से स्मृति दो प्रकार की होती है।
3. यथार्थानुभव रूपा प्रमावृत्ति के, प्रमाणों के आधार पर छै भेद होते हैं—

पारमार्थिकी।

यह व्यावहारिकी जीवाश्रया प्रमावृत्ति त्रिविध होती है।

१. यथार्थानुभवरूपा, २. स्मृतिरूपा और ३. प्रत्यभिज्ञारूपा।

I. उनमें से प्रत्यभिज्ञा तो—"सोऽयं देवदत्तः" (=यह वही देवदत्त है) इत्यादि स्मृतिमिश्रित अनुभव रूप होती है।

II. स्मृतिरूपा ज्ञानवृत्ति द्विविध होती है।

१. यथार्थानुभवजन्या और २. अयथार्थानुभवजन्या।

उनमें भी यथार्थानुभवजन्या स्मृति द्विविध होती है—

१. आत्मविषयिणी और २. अनात्मविषयिणी।

यों तो इनके भी भेद होते हैं पर उनके भी निरूपण से अनावश्यक विस्तार हो जाने की आशङ्का से उन भेदों का व्याख्यान नहीं किया गया है। इन स्मृतियों के स्वरूप, प्रत्यक्ष-प्रमा के आन्तर सविकल्प वृत्ति के समान हैं।

१. प्रत्यक्ष, २. अनुमिति, ३. उपमिति, ४. शाब्दी, ५. अर्थापत्ति. ६. अनुपलब्धि या अभाव।

III. यथार्थानुभवरूपा प्रमावृत्ति के (प्रमाणों के आधार पर) छे भेद होते हैं। यथा–१. प्रत्यक्ष प्रमा. २. अनुमितिप्रमा; ३. उपमितिप्रमा, ४. शाब्दीप्रमा, ५. अर्थापत्तिप्रमा और ६. अनुपलब्धिप्रमा या अभावप्रमा।

१. प्रत्यक्षप्रमा के दो भेद होते हैं–१. सविकल्प और २. निर्विकल्प इनमें से प्रत्येक के दो दो प्रकार होते हैं–१. बाह्य और २. आन्तर।

उनमें से बाह्य सविकल्प प्रत्यक्ष प्रमा वृत्ति पंचविध होती है--यथा–१. शाब्द २. स्पार्शन ३. चाक्षुष (=रूप) ४. रासन और ५. घ्राणज प्रमा।

आन्तर सविकल्प प्रत्यक्ष प्रमा वृत्ति द्विविध होती है–यथा–१. अनात्म-विषयिणी और २. आत्मविषयिणी।

१. उनमें से अनात्मविषयिणी प्रमा वह है—जिससे अपने शरीरगत सुख-दुःखादि का ज्ञान होता है। और २. आत्मविषयिणी वह है–जिससे अपने आपका ज्ञान, चैतन्य रूप से होता है।

२. आत्मविषयिणी आन्तर सविकल्प प्रत्यक्ष प्रमा वृत्ति द्विविध है--

१. विशिष्टात्म प्रमा–अर्थात्–'मैं जीव हूं' ऐसी वृत्ति।

२. विशुद्धात्म प्रमा--अर्थात् –'मैं ब्रह्म हूं' ऐसी वृत्ति।

पांच विषयों के भेद से प्रत्यक्षप्रमा पंचविध होती है।

अनुमिति प्रमा भी स्वार्थ और परार्थ भेद से द्विविध होती है

इनमें से प्रत्येक के १. परोक्ष और २. अपरोक्ष—ऐसे दो दो भेद होते है।

१. विशिष्टात्म परोक्ष प्रमा तो सुनने पर (=श्रवणजन्य) होती है पर—

२. विशिष्टात्म अपरोक्षप्रमा—विचारने पर (=विचार-जन्य) होती है। यही दोनों मेंभेद है।

१. विशुद्धात्म परोक्ष प्रमा तो—अन्य अवान्तर वाक्यजन्य होती है—और २. विशुद्धात्म अपरोक्षप्रमा—महावाक्य जन्य होती है। यही दोनों में भेद है।

दोनों ही अपरोक्ष प्रमाओं के दो दो भेद हैं—१. अदृढ़, २. दृढ़।

१. अदृढ़ अपरोक्ष प्रमा वह है जो कभी-कभी संशयग्रस्त हो जाय, या आचरण में परिणत न होकर केवल ज्ञानमात्र ही होवे।

२. दृढ़ अपरोक्ष प्रमा वह है - जिसमें नाममात्र भी संशय न रहे और सर्वदा सर्वथा सर्वत्र ही स्वरूपानुभूति होती रहे (जीव रूप से या ब्रह्मरूप से)

२. यथार्थानुभवरूपा अनुमिति प्रमावृत्ति द्विविध होती है—

१. स्वार्थानुमिति प्रमा और २. परार्थानुमिति प्रमा।

१. प्रथम में अंशकल्पना नहीं है पर, २. परार्थानुमिति प्रमा

परार्थानुमिति दो प्रकार की होती है— १. प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण से जन्य और २. उदाहरण-उपनय-निगमन से जन्य।

ये दोनों हेत्वाभासादि दोषों के होने न होने के भेद से द्विविध होती हैं।

द्विविध होती है—

१. प्रतिज्ञा हेतूदाहरणजन्य और २. उदाहरणोपनयनिगमनजन्य ये प्रत्येक द्विविध होती हैं, १. निर्दोष और २. सदोष।

हेत्वाभासादि दोषों से रहित निर्दोष है और दोष सहित सदोष है।

हेत्वाभास प्रधानतया पांच हैं—यथा—१. सव्यभिचार २. विरुद्ध ३. सत्प्रतिपक्ष ४. असिद्ध ५. बाधित।

उनमें से सव्यभिचार त्रिविध होता है—१. साधारण, २. असाधारण और ३. अनुपसंहारी।

असिद्धि भी त्रिविध होता है यथा—१. आश्रयासिद्ध २. स्वरूपासिद्ध ३. व्याप्यत्वासिद्ध।

उनमें से आश्रयासिद्ध द्विविध होता है—१. असत्प्रतिपक्ष, २. सिद्धसाधन।

स्वरूपासिद्ध चतुर्विध होता है—यथा—१. शुद्धा-सिद्ध २. भागासिद्ध ३. विशेषणासिद्ध ४. विशेष्यासिद्ध।

व्याप्यत्वासिद्ध भी चतुर्विध होता है—यथा—१. साधनाप्रसिद्ध २. साध्याप्रसिद्ध ३. व्यर्थविशेषण और ४. सोपाधिक।

ये हेत्वाभास पांच हैं। यथा—१. सव्यभिचार २. विरुद्ध ३. सत्प्रतिपक्ष ४. असिद्ध और ५. बाधित।

उपमिति प्रमा भी न्याय-मीमांसा के मतभेद से द्विविध होती है।

शाब्दी प्रमा भी परोक्ष-अपरोक्ष भेद से द्विविध होती है।

अर्थापत्तिप्रमा भी दृष्ट और श्रुत के भेद से द्विविध होती है।

अनुपलब्धि या अभावप्रमा एकही प्रकार की होती है।

---

२. यथार्थानुभवरूपा उपमितिप्रमा द्विविध होती है—यथा—
१. न्यायनय सम्मत और २. मीमांसानय सम्मत।
यथार्थानुभव रूपा शाब्दी प्रमा भी द्विविध होती है-यथा—
१. परोक्ष शाब्दी प्रमा और २. अपरोक्ष शाब्दी प्रमा।
ये दोनों ही लौकिक और वैदिक भेद से द्विविध होती हैं।
यथार्थानुभवरूपा अर्थापत्ति प्रमा वृत्ति भी द्विविध होती है—
१. दृष्टार्थापत्ति और २. श्रुतार्थापत्ति।
उनमें से श्रुतार्थापत्ति प्रमा द्विविध होती है—यथा—
१. अभिधानानुपपत्ति रूपा और २. अभिहितानुपपत्तिरूपा
अनुपलब्धि प्रमा या अभाव प्रमा एक प्रकार की ही होती हैं। इस तरह प्रमावृत्ति का नामनिर्देशात्मक संक्षिप्त व्याख्यान हो चुका है। (२)

(३) इस तरह प्रमावृत्ति का नाम निर्देशात्मक संक्षिप्त विवरण हो चुका। अब बुद्धि की अप्रमावृत्ति का व्याख्यान किया जाता है—यह स्मृति और अनुभूति के भेद से द्विविध होती है। उन में से स्मृति तो अनुभूति के अनुरूप ही होती है।

अनुभूति रूप अप्रमावृत्ति के संशय और निश्चय के भेद से दो प्रकार हैं।

संशय भी—१. प्रमाणगतसंशय और २. प्रमेयगत-संशय—ऐसे द्विविध है।

प्रमाणगत संशय भी १. शास्त्र और २. शास्त्रार्थ के विषय के भेद से द्विविध है।

---

३. अब बुद्धि की अप्रमावृत्ति का व्याख्यान किया जाता है—
बुद्धि की अप्रमावृत्ति द्विविध है–१. अनुभूति और २. स्मृति
उनमें से स्मृति तो सदा ही अनुभूति के अनुरूप ही होती है।
अनुभूति रूप अप्रमा वृत्ति दो प्रकार की होती है—यथा—
१. संशय रूपा और २. निश्चयरूपा।
उनमें से संशय के दो प्रकार हैं-प्रमाणगत और २. प्रमेयगत
उनमें से प्रमाणगत संशय दो प्रकार का होता है—
१. शास्त्रविषयक संशय=शास्त्रादि सत्य हैं या असत्य हैं ?
२. शास्त्रार्थविषयक संशय=शास्त्रों में जीव और ब्रह्म के

प्रमेयगत संशय भी आत्म-अनात्म विषयक होने से द्विविध होता है।

निश्चयात्मिका अनुभूति रूपा अप्रमावृत्ति भी तर्क रूपा और भ्रमरूपा ऐसे द्विविध होती है। जिनमें से तर्क के मुख्य भेद ग्यारह हैं।

भ्रमरूपा निश्चयात्मिका अप्रमावृत्ति को अध्यास भी कहते हैं।

द्वैत का प्रतिपादन है, अथवा अद्वैत का ?

प्रमेयगत संशय भी द्विविध होता है—१. अनात्मगत संशय अर्थात् शुक्तिरजतादिविषयक संशय। और

२. आत्मगत संशय=अर्थात् आत्मा के स्वरूप में संशय।

आत्मगत संशय तीन प्रकार का होता है—

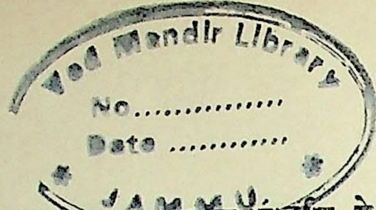
१. जीवविषयक २. ईश्वरविषयक ३. ब्रह्मविषयक।

निश्चयात्मिका अनुभूतिरूपा अप्रमावृत्ति के दो भेद हैं—यथा—१. तर्करूपा और २. विपर्ययरूपा या भ्रमरूपा।

उनमें से तर्क के मुख्य भेद ग्यारह हैं यथा—

१. व्याघात २. आत्माश्रय ३. अन्योन्याश्रय ४. चक्रिका ५. अनवस्था ६. प्रतिबन्धी ७. लाघव ८. गौरव ९. उत्सर्ग १०. अपवाद ११. वैयात्य।

विपर्ययरूपा निश्चयात्मिका अप्रमा वृत्ति तीन प्रकार की है—



इस अध्यास रूप अप्रमावृत्ति के दो मुख्य भेद हैं—

१. अर्थाध्यास और २. ज्ञानाध्यास।

इस अर्थाध्यास के आठ भेद हैं—१. केवल धर्म का अध्यास, २. धर्म सहित धर्मी का अध्यास, ३. आत्मा में अनात्मा का अध्यास, ४. अनात्मा में आत्मा का अध्यास, ५. केवल संबंध का अध्यास, ६. धर्म सहित संबंध का अध्यास, ७. संबंध सहित संबंधी का अध्यास, ८. एक दूसरे में परस्पर का अध्यास।

यथा—१. स्वप्न २. अनध्यवसाय और ३. अध्यास।

इनमें से प्रत्येक के दो दो भेद हैं—१. सोपाधिक और निरुपाधिक।

उनमें सोपाधिक विपर्यय अप्रमा दो प्रकार की है—यथा—

१. आंतर। यथा—कर्तृत्वभ्रांति आदि। २. बाह्य। यथा—लोहितस्फटिक भ्रांति आदि।

निरुपाधिक विपर्यय अप्रमा भी द्विविध है—१. आंतर—यथा—'मैं अज्ञ हूं' ऐसी भ्रांति २. बाह्य—यथा—रज्जु-सर्प-भ्रांति आदि।

विपर्यय प्रमा के इन सभी भेदों को अध्यास भी कहते हैं।

अध्यास रूप अप्रमावृत्ति के दो मुख्य भेद होते हैं—

१. अर्थाध्यास और २. ज्ञानाध्यास।

उनमें से अर्थाध्यास तीन प्रकार का है—यथा—१. स्वरूपाध्यास २. सम्बन्धाध्यास ३. स्वरूप सम्बधमिश्रिताध्यास।

इस तरह सत्रहवीं सृष्टि पूरी हुई ॥१७॥

१८. अब इस अठारहवीं सृष्टि में भेद और अभाव नामक पदार्थों का निरूपण किया जाता है—जो सृष्टि के पहले अव्यक्त और पीछे व्यक्त होते हैं।

I. उन में से भेद तीन प्रकार का है—१. सजातीय भेद २. विजातीय भेद, ३. स्वगत भेद।

सजातीय भेद के—१. चेतन, २. अचेतन में होने से दो भेद होते हैं।

चेतनगत-सजातीय-भेद के दो भेद हैं— १. जीव-जीव-भेद, २. जीव-ईश्वर-भेद।

अचेतनगत सजातीय भेद एक ही है–जड़-जड़-भेद।

विजातीय भेद के दो भेद हैं—१. जीव-जड़-भेद, २. ईश्वर-जड़-भेद।

स्वगत भेद भी द्विविध है—१. अंगका अंगी से भेद, २. एक अंग का दूसरे अंग से भेद।

II. अभाव के मुख्य दो भेद हैं—१. संसर्गाभाव और २. अन्योऽन्याभाव।

× × इसके बाद पाण्डुलिपि के फट जाने से छपना संभव नहीं हुआ—कभी छपेगा। —सम्पादक—

संसर्गाभाव त्रिविध है—१. प्रागभाव, २. प्रध्वंसाभाव ३. अत्यंताभाव। इस प्रकार सृष्टि विषयक सभी पदार्थों का संक्षिप्त व्याख्यान हो चुका ॥१८॥

उपर्युक्त वेदान्तशास्त्र द्वारा जिज्ञासु को समझाने के लिये स्वीकार किये गये पदार्थों के तत्त्व-विवेक पूर्वक मूल वस्तु को जान लेने पर—"मैं" नाम जिसका है, वह सत्य तत्त्व जाना जाता है; इसी लिये उपरिलिखित श्रुतिसम्मत सृष्टिप्रक्रिया का संक्षिप्त निरूपण किया गया है, जिसे अध्यारोप-प्रक्रिया भी कहते हैं।

इस अध्यारोपित सृष्टि का अपवाद अग्रिम ग्रन्थ में किया जायगा, चूंकि अध्यारोप के अपवाद बिना तत्त्व निर्णय नहीं होता इसलिये तत्त्वान्वेषी मुमुक्षुओं को अग्रिम ग्रन्थ श्रीगुरुमुख से ही, विधिपूर्वक ही, अवश्य ही सुनना, समझना चाहिए अवश्य ही सुनना, समझना चाहिए ॥ २ ॥

इस प्रकार "श्री स्वामी ज्ञानानन्द सरस्वती" द्वारा विरचित 'वेदान्त-प्रवेशिका' में 'अध्यारोप' नाम वाली द्वितीय भूमिका पूरी हुई ॥२॥

अशुद्धियों को निम्न रीति से सुधार कर पढ़िये

जैसे कि १०वें पृष्ठ की ६वीं पंक्ति का ११वां अक्षर 'न्तं' जानिये, भी वहां पर 'न्त' छपा है; अब संक्षेप से शुद्ध रूप समझिये–

पृ०	पं०	अक्षर	शुद्धि	पृ०	पं०	अक्षर	शुद्धि
१०	६	११	न्तं	१०	६	१४-१५	द-यो
१०	१६	४	नँ	१०	१८	१४	सं
११	८	६·७	क्त-म	१४	२	१८-१९	न या
१५	१३	१०	वं	१६	८	२	न
१६	१३	४	र्थं	१६	१७	१६	वि
१७	६	२	र्वं	१८	१२	१	(१)
१८	१३	१	(२)	१८	१७	१	(३)
२०	१२	१	(४)	२०	१८	१	वै
२१	८	ये चारों—जोकि		२१	९	२०	यं
२२	२	५	पा	२२	७	६	ज
२३	९	२१	है	२३	१३	१	सा
२३	१८	१६	वं	२४	२	७,१२	ब. वा,
२५	१०	२५	वां	२६	१९	१७	सं
२७	९	१३	मु	२८	४	१७	त्रि
२८	६	७	एं	२९	५	१२	ज्ञि
२९	१२	१६	र्थं	३१	२	५	वं
३१	८	१४	के	३२	७	७	त्त्व
३४	७	है के पश्चात्→		ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है.।			
३४	१०.	११	र्वं	३७	१२	१४	भी
३७	१३	२१ के जड़ांश		३७	२०	११	दि का)

वेदान्त-प्रवेशिका कहाँ कहाँ प्राप्य है

१ श्री १०८ महात्मा आनन्द सागर जी मह
परमाध्यक्ष—श्री सत्सङ्ग-भवन, रानी-तालाव,
जम्मू-तवी, काश्मीर-राज्य ।

२. श्री वंशी लाल जैन,
श्री जैन ग्लास हाउस, राजतिलक रोड, जम्मू ।
पो० आ०—जम्मू-तवी, काश्मीर-राज्य ।

३. पं० श्री निरञ्जन लाल ठक्कुर साहब
पैलेस रोड जम्मू, पो० आ० - जम्मू-तवी, काश्मीर-रा

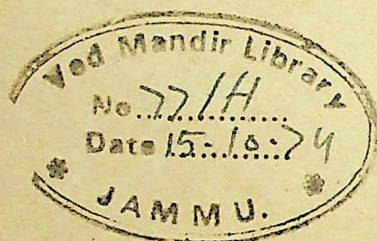
४. पं० श्री घनश्याम, *M. Sc.; B. T.*
प्रिंसिपल-गवर्नमेंट गान्धी मेमोरियल साइंस कालेज
कैनाल रोड, जम्मू-तवी, काश्मीर-राज्य ।

५. महिला-सत्सङ्ग मण्डल—कनक मण्डी
पो० आ० जम्मू-तवी, काश्मीर-राज्य ।

६. मुख्य प्राप्ति स्थल—
श्री ज्ञानेश्वर मन्दिर (परसतराई)
पो० आ०—खोहरसी-धमधरी, जिला—रायपुर (म० प्र

— भा र त व र्ष —

मुद्रक :- आर० सी० प्रिंटिंग प्रेस अपर बाजार जम्मू ।


Ved Mandir Library
No. 77/H
Date 15.10.74
JAMMU.